बीच बहस में

शिक्षा : संकट, चुनौतियाँ और अवसर

- सतीश देशपांडे
- पूनम बत्रा
- अतुल कोठारी
- सतेंद्र कुमार
- नीरज जैन
- कंचन शर्मा

परिसंवाद : एक प्रस्तावना

कंचन शर्मा : भारतीय भाषा कार्यक्रम की पूर्व-समीक्षित पत्रिका *प्रतिमान समय समाज संस्कृति* द्वारा आयोजित शिक्षा-परिसंवाद में आप सभी का स्वागत है। ख़ुशक़िस्मती से आज मेरे साथ शिक्षा पर अकादमीय अनुसंधान और चिंतन करने वाले तीन विद्वान प्रोफ़ेसर सतीश देशपांडे, प्रोफ़ेसर पूनम बत्रा और डॉ. सतेंद्र कुमार तो हैं ही, साथ ही चिंतन और एक्टिविज़्म के संयोग की नुमाइंदगी करने वाले अतुल कोठारी और नीरज जैन भी हैं। अतुल कोठारी शिक्षा संस्कृति उत्थान न्यास के महासचिव हैं। शिक्षा-नीति के बारे में उनके और उनकी संस्था के विचार बहुचर्चित रहे हैं। नीरज जैन लोकायत जैसे जुझारू जन-संगठन के संचालक हैं। वे पिछले कई वर्षों से शिक्षा में हुए परिवर्तनों की रैडिकल समालोचना करते रहे हैं।

मैं आप सभी का तहे-दिल से शुक्रिया अदा करती हूँ कि आपने इस संवाद में शिरकत की। इस संवाद का विषय है— शिक्षा : संकट, चुनौतियाँ और अवसर। मुझे लगता है कि शायद ही कभी भारतीय शिक्षा-व्यवस्था इतने संगीन संकट का शिकार रही हो, और इतने गम्भीर सवालों में घिरी रही हो— जितनी आज है। एक अध्ययन के मुताबिक़ स्कूली शिक्षा प्राप्त कर रहे केवल चालीस फ़ीसदी बच्चे ही गणना कर सकते हैं, और केवल साठ फ़ीसदी ही घड़ी देख कर वक़्त का पता लगा पाते हैं। हालात इतनी बुरी है। उच्च शिक्षा पर आइए। स्टेनफ़र्ड और विश्व-बैंक का एक हालिया सर्वे बताता है कि प्रतिष्ठित संस्थानों से इंजीनियरिंग कर रहे छात्र भी हायर ऑर्डर थिंकिंग या उच्चस्तरीय चिंतन करने की क्षमताओं से लैस नहीं हैं। हमारे स्नातकों की एम्प्लायबिलिटी (रोज़गारक्षम होना) बहुत कम है। ज़ाहिर है कि न तो सरकारी क्षेत्र और न ही बाज़ार की दुनिया, भारतीय शिक्षा व्यवस्था में गुणवत्ता और विस्तार की समस्याओं का समाधान निकाल पा रहे हैं। इसलिए मैं समझती हूँ कि आपसी मतभेदों के बावजूद इस क्षेत्र में बौद्धिक हस्तक्षेप करने का यह एक सही मौक़ा है।

हम यह चर्चा तीन चरणों में करेंगे। हर चरण में शिक्षा जगत की समस्याओं पर एक समग्र दृष्टिकोण से टीका-टिप्पणी करने का प्रयास होगा। जब हम भारतीय शिक्षा की बात करते हैं तो तीन स्तर उभर कर आते हैं। स्कूली शिक्षा, उच्च शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा। इन तीनों स्तरों पर शिक्षा-जगत आर्थिक संसाधनों की कमी, शैक्षिक गुणवत्ता के निरंतर ह्रास, निजीकरण और लोकतंत्रीकरण के अंतर्विरोध, व्यावहारिक ज्ञान और स्कूली ज्ञान के बीच अंतराल, विश्वविद्यालयीय शिक्षा और आर्थिक जगत के लिए आवश्यक प्रशिक्षण के बीच तालमेल के अभाव और अध्यापन के व्यवसाय में प्रेरणा के उत्तरोत्तर क्षय जैसी समस्याओं से जूझ रहा है।
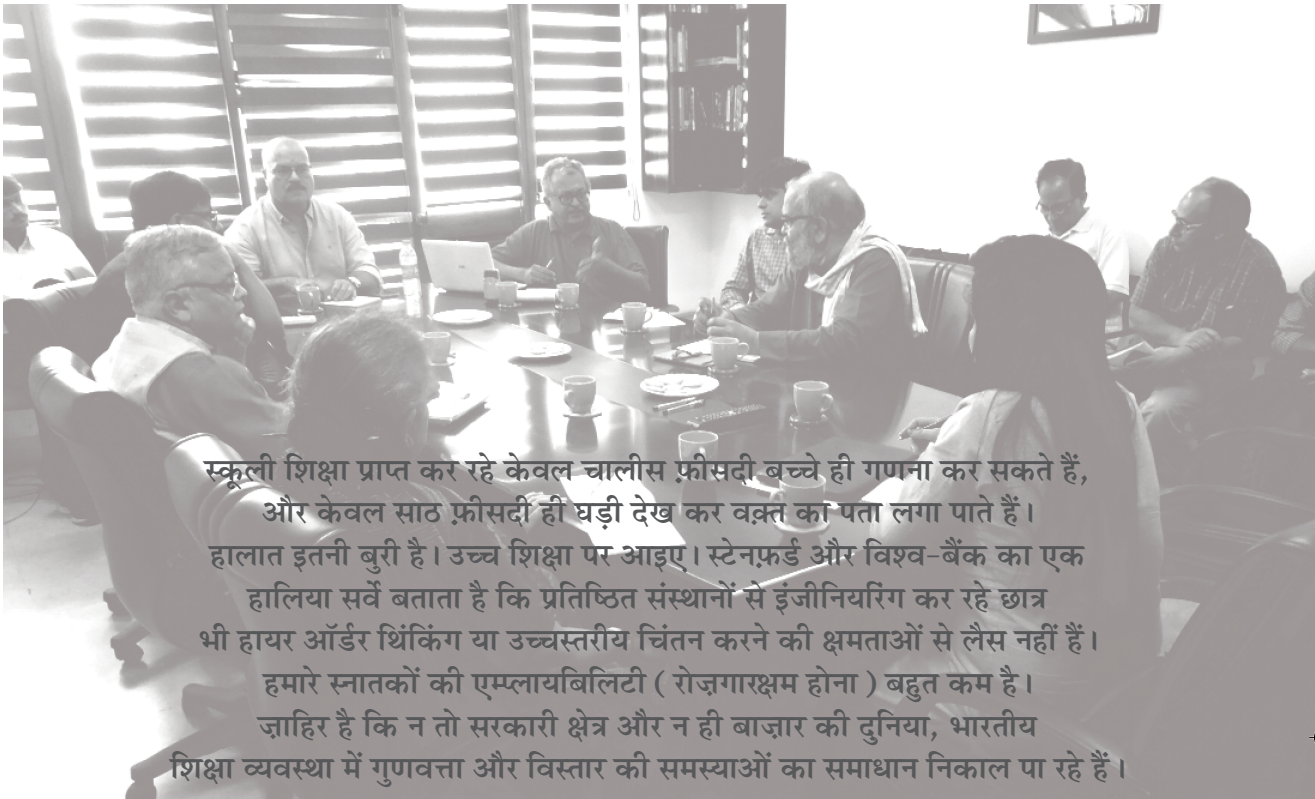
इन समस्याओं पर चर्चा के दो तरीक़े हो सकते हैं। या तो हम इन तीनों स्तरों को अलग-अलग ढाँचों में बाँट कर विश्लेषित करें या समग्रता में लेते हुए समझें। मुझे लगता है कि स्कूली, उच्च और व्यावसायिक शिक्षा पर अलग-अलग चर्चा न करके इन तीनों को एक समेकित-समग्र की तरह ग्रहण करते हुए विचार किया जा सकता है। इसी लिहाज़ से मैंने हर चरण के लिए अलग-अलग एक-एक व्यापक सवाल संकल्पित किया है।

मैं स्पष्ट कर दूँ कि मेरे सवाल केवल चर्चा को खोलने के लिए हैं, न कि किसी क़िस्म की बंदिश के लिए हैं। अगर मेरे सवालों में कुछ कमी है तो मुझे यक़ीन है कि सहभागी उसे पूरा कर देंगे। कुल मिला कर सभी सहभागी अपने विचार व्यक्त करने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र हैं।

I

निजीकरण और गुणवत्ता

पहला प्रश्न : मेरा पहला सवाल शिक्षा में बढ़ते निजीकरण से जुड़ा है। यहाँ विचारणीय है कि क्या हमेशा निजीकरण ग़लत ही होता है? या शिक्षा का क्षेत्र सरकार के हाथों में रहना ही श्रेयस्कर है? क्या इन दोनों का एक विवेकपूर्ण मिश्रण खोजा जाना चाहिए? क्या निगरानी के विभिन्न रूपों— जैसे सरकारी निगरानी, नागरिक समाज की निगरानी इत्यादि— के माध्यम से क्या शिक्षा के बाज़ार को नियंत्रित किया जा सकता है? जिन क्षेत्रों में सरकारी संस्थाएँ अपनी भूमिका नहीं निभा पा रही हैं— क्या निजी संस्थाओं के माध्यम से वहाँ कुछ किया जा सकता है? हाल में निजीकरण, स्वायत्तता और गुणवत्ता को आपस में जिस प्रकार से गूँथ कर समझा जा रहा है, उस बारे में आपके क्या विचार हैं?

स्कूली शिक्षा प्राप्त कर रहे केवल चालीस फ़ीसदी बच्चे ही गणना कर सकते हैं, और केवल साठ फ़ीसदी ही घड़ी देख कर वक़्त का पता लगा पाते हैं। हालात इतनी बुरी है। उच्च शिक्षा पर आइए। स्टेनफ़र्ड और विश्व-बैंक का एक हालिया सर्वे बताता है कि प्रतिष्ठित संस्थानों से इंजीनियरिंग कर रहे छात्र भी हायर ऑर्डर थिंकिंग या उच्चस्तरीय चिंतन करने की क्षमताओं से लैस नहीं हैं। हमारे स्नातकों की एम्प्लायबिलिटी (रोज़गारक्षम होना) बहुत कम है। ज़ाहिर है कि न तो सरकारी क्षेत्र और न ही बाज़ार की दुनिया, भारतीय शिक्षा व्यवस्था में गुणवत्ता और विस्तार की समस्याओं का समाधान निकाल पा रहे हैं।

और यह भी साफ़ हो गया है कि हम शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण के बढ़ते क़दम नहीं रोक पा रहे हैं तो ऐसी स्थिति में निजीकरण के बढ़ते प्रभाव से ऐसी कौन सी सम्भावनाएँ तलाशी जा सकती हैं, जो शिक्षा की गुणवत्ता व सामाजिक न्याय की लड़ाई में हमें ताक़त प्रदान कर सकें?

पूनम बत्रा : मुख्य तौर पर आप पूछ रही हैं कि क्या निजीकरण अपने आप में समस्या है, या एक तरह से जो सरकार की ज़िम्मेदारी है, उससे जोड़ कर भी हमें शिक्षा की बात करनी चाहिए। देखिए, निजीकरण अपने आप में बहुत पेचीदा मामला है। इस सिलसिले में अतीत में काफ़ी भिन्नताएँ रही हैं। इस चर्चा में कई बार आग्रह किया गया है कि पहले भी निजीकरण था। लेकिन उस समय की स्थिति, स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के बाद शुरुआती दौर में जब बहुत से लोग निजी संस्थाएँ चला कर शिक्षा में अहम योगदान दे रहे थे, उन्हें मैं आज की तरह से निजी नहीं मानती।

हमें सबसे पहले साफ़ कर देना चाहिए कि जिस निजी की आज के संदर्भ में बात की जाती है वह काफ़ी अलग है, क्योंकि इसके साथ लाभ कमाने का पूरा एक विचार जुड़ा हुआ है। आज तो स्कूली शिक्षा के संदर्भ में एक पूरा ग्लोबल नेटवर्क है जिसमें निजी स्कूलिंग 'फ़ॉर द पूअर, फ़ॉर द प्रॉफ़िट मेकिंग' की वकालत बहुत ज़ोर शोर से होती रही है और हो रही है। इस तरह का निजीकरण बिल्कुल सही रास्ता नहीं है। दुनिया में शायद कोई भी ऐसा देश नहीं होगा जिसमें निजीकरण के ज़रिये बच्चों को शिक्षा दी जाती हो। ख़ास कर हमारे अपने संदर्भ में तो इतनी नाइंसाफ़ियाँ हैं, इतनी विभिन्नताएँ हैं, इतने मसले हैं कि राज्य का दायित्व बहुत ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाता है। विडम्बना है कि यह एक तरह से कम होता जा रहा है। मुझे लगता है आज इसी पर बल दिया जाना चाहिए। मेरी मान्यता है कि स्कूली स्तर पर निजीकरण बिल्कुल नहीं होना चाहिए।

हाँ, कॉरपोरेट सोशल रिस्पांसिबिलिटी (सीएसआर) जैसी बात हो सकती है। कॉरपोरेट्स अपना पैसा

दुनिया में शायद कोई भी ऐसा देश नहीं होगा जिसमें निजीकरण के ज़रिये बच्चों को शिक्षा दी जाती हो। ... इतनी नाइंसाफ़ियाँ हैं, इतनी विभिन्नताएँ हैं, इतने मसले हैं कि राज्य का दायित्व बहुत ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाता है। विडम्बना है कि यह एक तरह से कम होता जा रहा है। मुझे लगता है आज इसी पर बल दिया जाना चाहिए। मेरी मान्यता है कि स्कूली स्तर पर निजीकरण बिल्कुल नहीं होना चाहिए।

स्कूल की आधारभूत संरचना या उच्च शिक्षा की आधारभूत संरचना में लगा सकते हैं। या स्रोतों की रचना में योगदान कर सकते हैं, जैसे अकादमिक पाठ्य सामग्री का प्रकाशन कराना। ख़ुद करने के बजाय उन्हें प्रकाशन में मदद करनी चाहिए। इस स्तर पर एंट्री हो सकती है। पर आज की स्थिति में तो यह एंट्री इतनी ज़्यादा हो चुकी है कि राज्य और केंद्रीय स्तर पर सभी सलाहकार समितियाँ कॉरपोरेट देखरेख में ही चल रही हैं। मुझे नहीं लगता कि इन कमेटियों में अकादमीय स्वर हैं या अकादमीय विशेषज्ञता अपनी भूमिका निभा रही है।

जहाँ तक गुणवत्ता का सवाल है, मुझे लगता है कि यह पूरा विचार ही मार्केट से उठाया गया है। जब शिक्षा की बात गाँधी ने की, रवींद्रनाथ ने की, जॉन डिवी ने की, 1916 में जब शिक्षा को सभी के लिए मुफ़्त और अनिवार्य बनाने की बात की जा रही थी, तब किसी ने 'क्वालिटी' शब्द का इस्तेमाल नहीं किया था। यह एक मार्केट का शब्द है जो अब शिक्षा के क्षेत्र में आ गया है। जिस तरह का विमर्श चला कर उसे प्रभावी बनाने की कोशिश की जा रही है, वह एक तरह से निओ-लिबरल एजेंडा है। इसमें हम मार्केट आधारित रिफ़ॉर्म की बात करते हैं और ग़रीबी को एक तरह से परिभाषित किया जाता है। जैसे ग़रीबी की रेखा क्या हो, एब्सुल्युट पॉवर्टी का क्या मतलब है, इत्यादि। इस पर कई विद्वानों ने बात की है। चाहे अमर्त्य सेन हों जो ग़रीबी को बिल्कुल अलग तरह से देखते हैं, या सोशल च्वाइस की थियरी हो जिसे मैं अलग तरह से देख रही हूँ। लेकिन निओ-लिबरल फ्रेमवर्क का विमर्श जिस तरह ग़रीबी और शिक्षा की भूमिका को परिभाषित कर रहा है, मुझे लगता है सबसे बड़ा ख़तरा वहाँ है। और हम क्वालिटी के इस फ्रेम में फँस रहे हैं। क्योंकि इसमें क्वालिटी का मतलब बस इतना रह गया है कि लर्निंग आउटकम्स क्या हैं। बच्चे किस स्तर पर कितना सीख रहे हैं, लेकिन क्लासरूम के अंदर जहाँ लर्निंग स्पेस है, उसके अंदर न किसी का ध्यान है, न रिसर्च का ध्यान है, न टीचर का ध्यान है। टीचर का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जा रहा है कि आप बच्चे को कितना अचीव करवा सकते हैं। यही समझ का एक मात्र मानक बन गया है। नीतियों पर बल दिए जाने के कारण एक तरह से शिक्षा प्रक्रिया अपने आप में ग़ायब होती जा रही है। मेरे विचार से इसी का परिणाम मार्केटाइज़ेशन और प्राइवेटाइज़ेशन है।

अतुल कोठारी : भारत में पहले एक तरह से सारी शिक्षा ही निजी दायरे में थी। स्वतंत्रता के बाद भी यही व्यवस्था चलती रही, लेकिन धीरे-धीरे अस्सी के दशक के बाद और विशेषकर नब्बे के दशक से शुरू हुए भूमण्डलीकरण ने इस निजीकरण की संकल्पना को पूरी तरह से बदल दिया। अब निजीकरण का मतलब हो गया व्यापारीकरण। इसलिए यह जो मुनाफ़ाख़ोरी वाला निजीकरण है, उससे हमें कोई ख़ास लाभ नहीं हो रहा है। इस तरह के निजीकरण के बदले कोशिश यह होनी चाहिए कि शिक्षा में समाज की सहभागिता बढ़े— ऐसे दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है।

जहाँ तक सरकारीकरण का सवाल है, दुनिया की कोई भी सरकार सारी शिक्षा चला सकती हो— ऐसा शायद नहीं है। सरकार की भूमिका महत्त्वपूर्ण ज़रूर है। कोठारी कमीशन ने भी सुझाव दिया था कि कुल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का छह प्रतिशत शिक्षा में ख़र्च होना चाहिए। इस मंज़िल तक आज तक शिक्षा पर ख़र्च नहीं पहुँच सका है। ज़ाहिर है कि सरकार को भी शिक्षा पर ख़र्च बढ़ाने की आवश्यकता है। असली प्रश्न यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में समाज की सहभागिता कैसे बढ़ाई जाए? समाज में आज भी सेवाभाव से कार्य करने वाले लोग हैं, जो आगे आ सकते हैं। उन्हें प्रोत्साहन व समर्थन देने की ज़रूरत है। समाज की शिक्षा में विभिन्न स्तर पर सहभागिता कैसे हो?

भारत में पहले एक तरह से सारी शिक्षा ही निजी दायरे में थी। ... धीरे-धीरे अस्सी के दशक के बाद और विशेषकर नब्बे के दशक से शुरू हुए भूमण्डलीकरण ने इस निजीकरण की संकल्पना को पूरी तरह से बदल दिया। अब निजीकरण का मतलब हो गया व्यापारीकरण। इसलिए यह जो मुनाफ़ाख़ोरी वाला निजीकरण है, उससे हमें कोई ख़ास लाभ नहीं हो रहा है।

आज हो यह गया है कि सरकारीकरण बनाम निजीकरण के बीच विवाद सारे देश में चल रहा है। सरकारी व्यवस्था आख़िर किसकी है? सरकारी व्यवस्था वास्तव में समाज की ही तो है। हमारे टैक्स से जो पैसा आता है उसी से ही तो सरकार शिक्षा चलाती है। तो, समाज का भी इस पर ध्यान होना चाहिए। जिस क्षेत्र में विद्यालय-महाविद्यालय चलते हैं, उसी क्षेत्र के कुछ जो वरिष्ठ प्रतिष्ठित नागरिक हैं, उनकी सहभागिता, उनका हस्तक्षेप शिक्षा में बढ़ाया जाना चाहिए। मुझे लगता है इससे सरकारी व्यवस्था में सुधार हो सकता है। मुझे लगता है निजीकरण के परवान चढ़ने का एक कारण यह भी है कि आज सामान्य और ग़रीब से ग़रीब व्यक्ति भी अपने बच्चों को निजी स्कूलों में पढ़ाना चाहता है, क्योंकि सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता बहुत ख़राब हो गयी है। सरकारी संस्थाओं की गुणवत्ता अगर ठीक की जाए तो निजीकरण की समस्या का समाधान हो सकता है। ऐसा कुछ होना चाहिए कि सरकार का इस तरफ़ ध्यान जाए।

मैं शिक्षा के क्षेत्र में कई वर्षों से काम कर रहा हूँ। शिक्षा संबंधी संस्थानों में जो बड़े-बड़े लोग बैठे हैं, उनमें कई वैज्ञानिक हैं, उद्योगपति हैं, इनसे मैं अकसर एक बात पूछता हूँ कि आप कौन से विद्यालय में पढ़े हैं और आपका माध्यम क्या रहा है। तो लगभग सभी का एक समान उत्तर आता है कि सरकारी विद्यालय में पढ़े हैं और अपनी भाषा में पढ़ा है। सरकारी विद्यालय में और अपनी भाषा में पढ़ कर ऊँचे पद पर हैं, ऊँची हैसियत हासिल की है। लेकिन आज लोगों को लगता है कि सरकारी विद्यालय में पढ़ कर कुछ होने वाला नहीं है। यानी सरकारी संस्थाओं की गुणवत्ता का विकास किया जाए और समाज की सहभागिता बढ़ाई जाए— यह दो काम किये जाएँ तो मुझे लगता है निजीकरण की समस्या का समाधान मिल सकता है।

*(**कं. श. :** आप जो मुद्दा उठा रहे हैं उसके भीतर एक बहस है। यह आज़ादी के पहले और तुरंत बाद परोपकार की दृष्टि से राष्ट्रवादी नेताओं ने जो निजी संस्थान खोले थे, उनके चरित्र के आकलन के बारे में भी है। अगर आप इस बारे में भी चर्चा करें तो यह बात पूरी हो जाएगी।)* मुझे लगता है कि राष्ट्रवाद जैसे शब्द उस समय शायद इतने प्रचलित नहीं थे। उस समय कुल मिला कर विभिन्न प्रकार के नेतृत्व ने, जो आज़ादी के संघर्ष में भी शामिल था, शिक्षा के क्षेत्र में भी बड़ा राष्ट्रीय आंदोलन खड़ा किया था। चाहे वे गाँधीजी हों, महर्षि अरविंद हों, रवींद्रनाथ ठाकुर हों, या दयानंद सरस्वती हों। इन्होंने न केवल शिक्षा का राष्ट्रव्यापी आंदोलन खड़ा किया, बल्कि ऐसे संस्थान भी खोले, जिसमें भारत की शिक्षा कैसी होनी चाहिए, ऐसी दृष्टि भी थी और साथ ही साथ सेवा-भाव भी था। स्वतंत्रता के बाद भी कुछ समय ऐसा चलता रहा। आज भी कुछ मात्रा में है, लेकिन यह मात्रा बेहद कम हो गयी है। जैसे विद्या भारती अखिल भारतीय संस्थान है। उनके चौदह हज़ार से ज़्यादा विद्यालय देश भर में चल रहे हैं। सात हज़ार से ज़्यादा एकल विद्यालय चलते हैं। इसी प्रकार एक वनबंधु परिषद है। उनके भी हज़ारों की संख्या में एकल विद्यालय चलते हैं। जहाँ सरकार नहीं पहुँची है— जैसे जनजाति क्षेत्र, गिरि क्षेत्र, पहाड़ी क्षेत्र आदि वहाँ यह काम हो रहा है। ऐसे सभी क्षेत्रों में जहाँ व्यवसायीकरण की सम्भावना ही नहीं है, वहाँ उस समाज का सहयोग ले कर इतने बड़े स्तर पर संस्थान चल रहे हैं। इस प्रकार के संस्थानों की संख्या बढ़ती जाएगी, तो निजीकरण की जो समस्या है उसके हल की एक दिशा मिल सकती है।

*(**कं. श. :** तो आपको लगता है कि विद्या भारती का यह पूरा अभियान उसी परम्परा में है जो गाँधी की थी, रवींद्रनाथ की थी।)* जी हाँ, बिल्कुल, क्योंकि आप देखिए यह संस्थान बच्चों से कम से कम शुल्क लेते हैं। साथ-साथ अच्छे संस्कार देने का भी प्रयास करते हैं। आज हमारे समय में सबसे बड़ी समस्या बच्चों को नैतिक मूल्य देने की है। देश में इस पर बात भले ही बहस चल रही हो, पर हल दिखाई नहीं देता। मैं एक संगोष्ठी में गया था अलीगढ़ में। वह संगोष्ठी मूल्य आधारित शिक्षा पर ही थी। उसमें *दैनिक जागरण* के

सम्पादक अध्यक्षता कर रहे थे। उन्होंने समापन में कहा कि समाचार पत्र समाज का आईना होता है। किसी लड़के ने ग़लत काम किया, किसी शिक्षक ने ग़लत काम किया, इत्यादि बातें हमारे सामने खुले रूप में आती रहती हैं— लेकिन उन्होंने कहा कि विद्या भारती के विद्यालयों की एक भी घटना हमारे सामने नहीं आयी है। इसका कारण है कि उन विद्यालयों में नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जा रही है। इन दोनों बातों को साथ-साथ लाने का प्रयास किया जा रहा है। इसी प्रकार से और भी लोग छोटे-मोटे प्रयास कर रहे हैं। हमने अभी छह, सात और आठ अप्रैल को तीन दिन का ज्ञानोत्सव दिल्ली में किया। इसमें हमने कई सरकारी व निजी स्तर के संस्थान जो नवाचार कर रहे हैं, उन्हें आमंत्रित किया। ऐसे नवाचार करने वाले लोगों को बुलाया और उनकी प्रदर्शनी भी लगाई थी। यह काफ़ी अच्छा प्रयास था। इसमें से कुछ व्यक्तिगत प्रयास थे, तो कई शैक्षिक संस्थानों के प्रयास थे लेकिन सब बेहद अच्छे प्रयास थे। हमने छह अप्रैल 2018 को देश के बड़े बड़े संस्थानों से भी दो-दो लोगों को बुलाया था। हमारा यह पहला प्रयास था पर हमारी अपेक्षा से अधिक लोग आये थे। हमारा यह प्रयास रहेगा कि यह योजना और राज्यों में भी आगे बढ़े।

*(**कं. श. :** एक तर्क यह दिया जाता है इसमें कि जब किसी समाज या देश का अभिजन अपने बच्चों को सरकारी स्कूली शिक्षा से बाहर निकाल लेता है तो फिर सरकारी स्कूलों की हालत बिल्कुल अनाथों वाली हो जाती है। उनको ठीक और बेहतर बनाने के लिए उन पर किसी प्रकार का सामाजिक दबाव नहीं रह जाता है। क्या आपको लगता है कि भारत में ऐसा हुआ है?)* जी हाँ, ऐसा हुआ है, पर पूरा सौ प्रतिशत हुआ हो ऐसा भी नहीं कह सकते, पर काफ़ी मात्रा में हुआ है। इसके होने का कारण भी है। देखिए, सरकारी संस्थानों में भी दो प्रकार के विद्यालय हैं। केंद्रीय विद्यालय भी हैं, आईआईटी और आईआईएम जैसे संस्थान भी हैं। वहाँ तो गुणवत्ता का स्तर ऊँचा है। पैसे वाले लोग निजी स्कूल में जा सकते हैं, पर जो ग़रीब बेचारा है उसकी तो मजबूरी है। इसलिए उनको सरकारी स्कूलों में जाना पड़ता है। अगर सरकारी संस्थानों की गुणवत्ता ठीक कर दी जाए तो मैं समझता हूँ कि समाज का सम्पन्न वर्ग भी अपने बच्चों को उसी में पढ़ाएगा।

देखिए लोकतांत्रिक व्यवस्था में आप किसी पर दबाव नहीं बना सकते कि आप क्यों सरकारी संस्थान में नहीं जा रहे। यह वैधानिक रूप से नहीं चलेगा। इस प्रकार के कई अच्छे प्रयास किये जा रहे हैं। जैसे एक कलेक्टर ने अपने बच्चे को सरकारी स्कूल में बिठाया, लेकिन यह अपवाद है।

*(**कं. श. :** आपका प्रकल्प तो सामाजिक और सांस्कृतिक है, इसलिए मुझे राजनीतिक प्रश्न आपसे नहीं पूछना चाहिए— लेकिन फिर भी सामाजिक और सांस्कृतिक मुक़ाम पर खड़े होकर भी हम राजनीति को देखते हैं तो क्या आपको लगता है कि मौजूदा सरकार कुछ कर रही है। पहले की सरकारों ने तो जो किया वह किया। उन्हीं का किया हुआ है कि आज हम इस इन हालात में हैं। उन्होंने ऐसा नहीं किया होता तो इतनी बुरी स्थिति नहीं होती। लेकिन मौजूदा सरकार जिसके चार साल पूरे होने जा रहे हैं क्या इसने सरकारी शिक्षा के स्तर को सुधारने में कुछ सकारात्मक योगदान किया है, या परिस्थिति पहले से ज़्यादा बिगड़ी है।)* ऐसा है कि प्रयास पहले भी हुए हैं। ऐसा नहीं है कि पहले कुछ नहीं हुआ। प्रयास अब भी हो रहे हैं। लेकिन जब तक समग्रता से शिक्षा का दृष्टिकोण नहीं विकसित किया जाएगा तब तक यह सारी बातें सतही होती हैं। मेरा यह मानना है कि शिक्षा ऐसा विषय है जिसमें सरकार से ज़्यादा समाज की भूमिका होनी चाहिए, क्योंकि सरकार कोई नीति लाती है जैसे सतत और व्यापक मूल्यांकन (सीसीई) पद्धति लाई गयी। मैं नहीं मानता कि वह ख़राब पद्धति थी। वह दृष्टिकोण अच्छा था, संकल्पना अच्छी थी। लेकिन पहले सीसीई शून्य था, एक रात में सौ प्रतिशत ला दिया गया— तो वह सफल नहीं हो सका। सीसीई पहले नहीं था, तो पहले आप 20 प्रतिशत या 30 प्रतिशत लाइए। फिर एक साल बाद उसका विस्तार कीजिए। विद्यार्थियों-अध्यापकों से विचार-विमर्श करिए। फिर उसके अनुसार क़दम-ब-क़दम आगे बढ़ने की बात होनी चाहिए थी। लेकिन हमारे यहाँ सरकारी तंत्र में तो फ़तवाशाही चलती है। बस कोई विचार सरकारी स्तर पर होता है, चार-दस लोगों ने विचार किया और लागू कर दिया। यह सफल नहीं हो पाता। कम से कम शिक्षा में तो यह सफल नहीं होगा।

इसलिए मेरा यहाँ यह कहना है कि समाज में सहभागिता को हर स्तर पर बढ़ावा दिया जाए और शिक्षा के जो आधारभूत अंग हैं— छात्र और शिक्षक वर्ग— उन्हें बदलाव में शामिल करें। कोई बदलाव लाया जाता है तो उनसे तो कोई पूछता नहीं। हमने जितने भी प्रयोग किये हैं, विद्यालय-विश्वविद्यालय स्तर पर वे सफल हुए हैं। शिक्षक और छात्रों की सहमति व सहभागिता से ही कोई निर्णय सफल होगा। जैसे पंजाब में तलवाड़ा है। वहाँ एक विद्यालय चलता है। उस विद्यालय का पूरा संचालन छात्र करते हैं। परीक्षा कैसे लेनी चाहिए?

कुछ संस्थान ऐसे थे जहाँ कक्षा, लाइब्रेरी, लैब वग़ैरह नदारद थे। लाइब्रेरी के नाम पर दो-तीन किताबें थीं। ख़ाली कमरे थे, किसी में कुर्सी-मेज़ थी, किसी में नहीं थी। दूसरा हमने पाया कि फ़ैकल्टी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के मानदण्डों के हिसाब से नहीं थी। जैसे एक फ़ैकल्टी सदस्य के पास डिग्री होना और बाक़ी के पास न होना।

अकादमिक कार्यक्रम बनाने से लेकर प्रबंधन तक सब क्षेत्र में शिक्षक छात्रों की सहभागिता होती है। छात्रों के नेतृत्व में विद्यालय चलता है। वहाँ बच्चे सब दृष्टि से आगे हैं।

शिक्षा के सभी स्तर पर विभिन्न प्रकार की सहभागिता के प्रयास होने चाहिए। इस प्रकार शिक्षा समाज केंद्रित विषय ज़्यादा होना चाहिए, सरकार केंद्रित कम होना चाहिए।

सतेंद्र कुमार : मैं निजीकरण के सवाल पर दो तरह से बोलूँगा। एक तो निजीकरण को मुनाफ़ाख़ोरी से अलग करके देखना चाहिए क्योंकि निजीकरण की प्रक्रिया या निजी कॉलेज आज़ादी के समय से ही रहे हैं। होता यह रहा है कि किसी समुदाय विशेष ने अपनी संस्थाएँ खोल दीं और बाद में सरकार ने उन्हें आर्थिक मदद प्रदान करनी शुरू कर दी। मैं ख़ुद ऐसे ही स्कूल से पढ़ कर आया हूँ। आप उन्हें भी निजी कह सकते हैं। सरकारी नहीं था वह। लेकिन 2000 से जो प्रक्रिया शुरू हुई, उसमें जो मुनाफ़ाख़ोरी का मामला है, वह सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। यह हमने अपने एक शोध-अध्ययन में देखा है। उसी आधार पर मैं अपनी बात कहना चाहूँगा। हमने मेरठ और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के आसपास लगभग चालीस संस्थाओं पर शोध किया। इससे आँकड़े निकल कर आये कि 1999 के आसपास यहाँ केवल दस-बारह संस्थान थे, जो बीएड और अन्य कोर्स के क्षेत्र में डिग्री प्रदान करते थे। लेकिन 2012 में जब हमने अध्ययन किया तो लगभग 400 के आसपास संस्थान बीएड और अन्य वोकेशनल कोर्स के बन चुके थे। आज की तारीख़ में तो वे लगभग 500 के आसपास पहुँच चुके होंगे, क्योंकि बहुत तेज़ी से वहाँ संस्थान खुल रहे हैं। इस शोध में हमने पाया कि इन निजी संस्थाओं की हालत दो-तीन तरह से ख़राब थी। जैसे कुछ संस्थान ऐसे थे जहाँ कक्षा, लाइब्रेरी, लैब वग़ैरह नदारद थे। लाइब्रेरी के नाम पर दो-तीन किताबें थीं। ख़ाली कमरे थे, किसी में कुर्सी-मेज़ थी, किसी में नहीं थी। दूसरा हमने पाया कि फ़ैकल्टी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के मानदण्डों के हिसाब से नहीं थी। जैसे एक फ़ैकल्टी सदस्य के पास डिग्री होना और बाक़ी के पास न होना। उन्हें वैसे ही हायर किया हुआ था। तीसरी बात ये थी कि फ़ैकल्टी थी ही नहीं। केवल काग़ज़ पर ही थी। अगर बोला जाए मीटिंग के लिए, तो वे थे ही नहीं। धीरे-धीरे पता चला कि बहुत सारे कॉलेज में फ़ैकल्टी नाम की चीज़ ही नहीं है। वहाँ केवल उनके नाम लिखे हैं, उनके दस्तावेज़ जमा हैं। पूरा रैकेट काम करता दिखा। जो योग्य शिक्षक हैं वे एक संस्थान में ही नहीं बल्कि चार-पाँच संस्थानों में अपनी डिग्री जमा कराते थे और तीन-चार जगह से अपनी सैलरी लेते थे। और बाद में वे सैलरी का कुछ हिस्सा लौटा देते थे।

एक तीसरे तरह के संस्थान है जो केवल वेबसाइट पर ही अस्तित्व में हैं। इनका कहीं पर कोई भी भौतिक अस्तित्व नहीं है। तो इन सब मामलों को गौर से देखा जाए तो साफ़ हो जाता है कि निजीकरण के बढ़ने से गुणवत्ता प्रभावित हुई है। यदि उनके पास संरचना नहीं है, शिक्षक नहीं है, लाइब्रेरी और लैब नहीं है तो इसका सीधा मतलब है कि ये संस्थाएँ डिग्रियाँ बाँट रही हैं। लेकिन मैं यहाँ यह भी कहना चाहूँगा कि इस बात का संबंध इससे भी है कि अगर आप 1970 से देखें तो सरकार ने मेरठ और उसके आसपास के क्षेत्रों में कोई भी नया कॉलेज नहीं बनवाया है। तो, इसका संबंध माँग से भी है। स्कूलों और कॉलेज में जाने वाली आबादी कई गुना बढ़ चुकी है। वे कहीं न कहीं तो जाएँगे ही, और अगर सरकार संस्थान नहीं खोलेगी तो लोगों को तो कहीं न कहीं जाना है। तो, इस माँग को निजी संस्थान पूरा करते हैं।

यहाँ हम जिन संस्थानों के बारे में बात कर रहे हैं, उन्हें तीन जगहों से मान्यता मिलती है। एक मान्यता मिलती है विश्वविद्यालय से, जैसे मेरठ विश्वविद्यालय देता है मान्यता। दूसरी मान्यता एनसीटीई (नैशनल

काउंसिल फ़ॉर टीचर एजुकेशन) देता है बीएड जैसे कॉलेज के लिए और तीसरी मान्यता उत्तर प्रदेश सरकार देती है।

तो सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी इन तीनों संस्थानों की है कि उन्होंने बिना जाँचे-परखे या कम जाँच करके मान्यता दे दी। यहाँ सवाल निगरानी का है कि सरकार जो कर सकती है, वह भी नहीं करती।

तो पूरी बात का अर्थ है कि आपको यदि निजीकरण को बढ़ावा देना है तो मुनाफ़ाख़ोरी को रोकना होगा। क्योंकि इसमें बड़ी फ़ीस ली जाती है। दूसरा, बिना सरकारी संस्थानों को मजबूत किये आप अगर निजीकरण करेंगे तो वो एक तरह से जनता के लिए, शिक्षा के लिए लाभदायक नहीं हो सकता। आपको स्तर बनाए रखना होगा तब जा कर आप दोनों क्षेत्रों को बढ़ावा दे सकते हैं।

आज़ादी के आसपास जो संस्थान खुले थे, वे मुनाफ़े वाले नहीं थे और मुनाफ़ा रहित संस्थान के तौर पर रजिस्टर्ड थे। आज एक इस बात को नज़रअंदाज़ किया गया है कि आज की संस्थाएँ भी उसी एक्ट के अनुसार नॉन प्रॉफ़िट ऑर्गनाइज़ेशन के तौर पर रजिस्टर्ड हैं या पैसा कमाने के बावजूद ये टैक्स नहीं देतीं। सबसे बड़ा घालमेल है फ़ीस का। दरअसल आज़ादी के आसपास जो संस्थान खुले थे उनमें फ़ीस उतनी ली जाती थी जो सरकार तय करती थी। यहाँ गुप्त फ़ीस होती है। जैसे काग़ज़ पर 59 हज़ार है, लेकिन वह बस दिखावे के लिए है। उसकी जो गुप्त फ़ीस है वो लगभग दो या ढाई लाख रुपये है। यह एक छात्र से ली जाती है। इसमें साझे रूप में सबकी हामी होती है। छात्र भी चाहते हैं कि पैसे लेकर हमें डिग्री मिल जाए। इसमें सरकार की भूमिका अहम है कि कैसे इन्हें चेक करे। न केवल फ़ीस के स्तर पर बल्कि यह देखना भी कि कक्षा होती है या नहीं। इसमें राज्य की बहुत बड़ी भूमिका है।

नीरज जैन : पहली बात तो यह है कि अगर कोई भी देश, समाज या सरकार अपने को पूरी तरह से विकसित करना चाहता है तो उसके सारे बच्चों को शिक्षित किया जाना चाहिए। इस पर कोई बहस हो ही नहीं सकती। यानी सारे बच्चों को शिक्षित करना किसी भी देश का पहला और बुनियादी क़दम है। दुनिया का कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसने यह काम न किया हो। इन देशों ने अपने विकास के शुरुआती दौर में ही इसकी गारंटी ली कि वे अपने सारे बच्चों को शिक्षित करने के क़दम उठाएँगे और उन्होंने उसके लिए प्रावधान भी किया। शिक्षा के महत्त्व पर मेरे ख़्याल से बहुत ज़्यादा बात करने की आवश्यकता नहीं है। सभी उससे सहमत हैं। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि जब हम निजीकरण की बात लेकर आते हैं तो कुछ लोगों का कहना है कि आंशिक निजीकरण चलेगा।

मैं स्वतंत्रता से पूर्व के संस्थानों को निजी नहीं मानता क्योंकि वह एक ख़ास परिस्थिति थी। अंग्रेज़ देश को शिक्षित नहीं करना चाहते थे और यहाँ स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े देशभक्त लोगों ने अपनी संस्थाएँ शुरू कीं। जैसे महाराष्ट्र में महर्षि कर्वे ने संस्था शुरू की। उसे निजीकरण नहीं कह सकते। अंग्रेज़ों की शिक्षा नीति का विरोध करते हुए वे संस्थाएँ खड़ी की गयीं। सरकार नहीं करेगी तो जनता करेगी। बाद में सरकार ने उन्हें आर्थिक मदद देना शुरू किया। मेरे ख़्याल से इस बारे में हम लोगों के बीच विवाद नहीं है।

यह कहना कि आंशिक रूप से निजी हो— इस मुद्दे से जुड़ा है कि हम शिक्षा दे किसलिए रहे हैं। अगर शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता विकसित करना है, देश के विकास से सभी को जोड़ना है, उस तरह का वातावरण तैयार करना है जिसमें पढ़ाई हो, देश की चिंताओं पर बातचीत हो आदि तो उसमें निजी क्षेत्र की कोई भूमिका हो ही नहीं सकती। क्योंकि निजी क्षेत्र हर समय लाभ कमाने पर केंद्रित रहता है। इसीलिए जो सरकारी कमेटियाँ बनी हैं जिन्होंने निजीकरण की बात कही— जैसे बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट, विश्व बैंक की रिपोर्ट। विश्व बैंक की रिपोर्ट मज़े में कहती है कि भाई जो मानविकी की पढ़ाई है उसमें निजी क्षेत्र की कोई रुचि नहीं है। सरकार उसकी ज़िम्मेदारी ले, बाक़ी सारा हम करेंगे। क्या इंजीनियरिंग या मैनेजमेंट का देश के विकास से संबंध नहीं है। क्या इनका देश की प्राथमिकताओं के इर्द-गिर्द काम नहीं है। क्या यह नहीं होना चाहिए कि नफ़े से अलग भी सोचा जाए।

एडम स्मिथ जिन्होंने बाज़ार का बुनियादी आर्थिक सिद्धांत पेश किया था, वे यहाँ तक कहते हैं कि शिक्षा पब्लिक सेक्टर में होनी चाहिए। अगर हम यह कहें कि भई कुछ भूमिका सरकार की हो और कुछ निजी क्षेत्र निभाए, तो पूछना पड़ेगा कि निजी क्षेत्र उसमें क्यों आएगा। वह तो नफ़े के लिए ही आएगा। यदि नफ़े के लिए आएगा तो समाज का पिछड़ा तबक़ा स्वत: ही उससे छूट जाएगा। उस सूरत में शिक्षा में

यह कहना कि आंशिक रूप से निजी हो— इस मुद्दे से जुड़ा है कि हम शिक्षा दे किस लिए रहे हैं। अगर शिक्षा का उद्देश्य नागरिकता विकसित करना है, देश के विकास से सभी को जोड़ना है, उस तरह का वातावरण तैयार करना है जिसमें पढ़ाई हो, देश की चिंताओं पर बातचीत हो आदि तो उसमें निजी क्षेत्र की कोई भूमिका हो ही नहीं सकती। क्योंकि निजी क्षेत्र हर समय लाभ कमाने पर केंद्रित रहता है।

पदसोपानीयता होनी ही होनी है। यदि हम चाहते हैं कि देश के सारे बच्चे शिक्षित हों, तो शुरू में ही इस बात को रखा जाए। इस देश में 40 फ़ीसदी बच्चे तो बीच में पढ़ाई छोड़ देते हैं, आठवीं के बाद। योजना आयोग और अन्य रपटें इस तथ्य को पुष्ट करती हैं। जो बच्चे स्कूल में हैं पाँचवीं या आठवीं कक्षा में, वे भी कुछ नहीं जानते। अगर आपने 60 से 70 फ़ीसदी बच्चों को अशिक्षित रखा हुआ है और आप विकास की बात कर रहे हैं तो यह एक एक ढोंग हैं। यानी सिर्फ़ जीडीपी के आँकड़ों की बात हो रही है कि ग्रोथ रेट क्या है। दरअसल आपको जनता से कुछ लेना-देना नहीं है। जो आदमी शिक्षित नहीं होगा वह विकास की प्रक्रिया में शामिल कैसे हो सकता है। यानी जब हम विकास करना चाहते हैं और सभी को उस विकास में शामिल करना चाहते हैं तो इस बात पर बहस हो ही नहीं सकती कि सभी को शिक्षित करने की ज़िम्मेदारी सरकार को लेनी चाहिए और निजी क्षेत्र उसमें क़तई नहीं आएगा। निजी क्षेत्र अपने फ़ायदे के लिए आता है। सभी को शिक्षित करने में उसकी रुचि है ही नहीं।

ये ठीक बात है कि इस पर आज़ादी के बाद बहुत ज़ोर नहीं रहा लेकिन तब शिक्षण संस्थानों में निजी क्षेत्र बहुत छोटा था और उस छोटे क्षेत्र की भी कोठारी कमीशन ने आलोचना की थी। कोठारी कमीशन ने कहा था कि ये एलिटिज़्म है और ये नहीं चलना चाहिए पर उसे बनाए रखा गया।

अब मैं दूसरे मुद्दे पर आ रहा हूँ। जब हम कहते हैं 'गुणवत्ता'। पचास, साठ, सत्तर के दशक में हम सभी सरकारी स्कूलों से पढ़े हैं। बढ़िया चलते थे वे स्कूल। आज भी केंद्रीय विद्यालय बहुत अच्छे चलते हैं। आज भी उच्च शिक्षा में सबसे अच्छे संस्थान सरकारी क्षेत्र में हैं। यदि हम बहस चलाएँ कि सरकारी क्षेत्र में संस्थान अच्छे नहीं हैं तो यह भी ग़लत है। सवाल इस बात का है कि आप वहाँ क्या माहौल बना रहे हैं। निजीकरण की बहस का संबंध इससे जुड़ा है कि ये सब हो क्यों रहा है। इतने बड़े पैमाने पर निजीकारण हो क्यों रहा है? हालत यह है कि अगले दो-तीन सालों में आधे से ज़्यादा बच्चे निजी संस्थानों में जाएँगे। और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में तो साठ से पैंसठ प्रतिशत जा रहे हैं। यह इतने बड़े पैमाने पर इसलिए हुआ है कि सोच-समझ कर वैश्वीकरण के नाम पर शर्तें लगी हैं। वैश्वीकरण इस देश के आर्थिक संकट का हल करने के लिए नहीं लागू किया गया था। वैश्वीकरण द्वारा इस देश के ऊपर शर्तें लगाई गयीं क्योंकि 1990 में देश क़र्ज़े में डूब चुका था और उसके दस साल पहले ही हवा बहनी शुरू हो गयी थी। आईएमएफ़ से पहला क़र्ज़ 1980 के आसपास लिया गया था और अप्रत्यक्ष रूप से सारी शर्तें मान ली गयी थीं। उसी की भूमिका में 1986 की शिक्षा नीति आयी थी। आप यदि यहाँ की सरकारी कमेटी और वर्ल्ड बैंक की रिपोर्ट देखें तो दोनों हूबहू एक सी मिलेंगी। बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट वही कहती है जो वर्ल्ड बैंक की रिपोर्ट उस साल आयी थी। तो ये जो शर्तें इस देश में लगाई हुई हैं, वे कहती हैं कि सामाजिक क्षेत्र में सरकार अपने ख़र्चे कम करेगी और निजीकरण को बढ़ावा देगी। विकसित देश अपने यहाँ अलग क़िस्म की नीतियाँ लागू करते हैं और हमारे ऊपर दूसरे क़िस्म की नीतियाँ लदवाते हैं।

शर्तों के बाद हमारे यहाँ निजीकरण की हवा शुरू हुई है। हमें ध्यान में रखना चाहिए कि इस देश में जो हो रहा है वह अचानक नहीं हो रहा है। इस पर तो बहस ही नहीं चल रही है कि हम विश्व बैंक की शर्तें क्यों मानें? हम अपने देश को अपने हिसाब से क्यों न विकसित करें। और जो क़र्ज़े का संकट है वो अलग बहस है। उस पर बात हो सकती है और उससे भी निपटा जाना चाहिए। लेकिन जब तक हम उनकी शर्तें और बातें मानते रहेंगे, जब तक हमारा चीफ़ एडवाइज़र सीधे वाशिंगटन से भारत में आयात किया जाता रहेगा और

उनकी बात चलती रहेगी तो उनकी बातें ही लागू होंगी और उनका पॉलिसी फ्रेम ही लागू होगा। वे नहीं चाहते कि देश का विकास हो। जब हम कहते हैं कि पूरे समाज को शिक्षा में रुचि होनी चाहिए, पर जैसे-जैसे वे निजीकरण बढ़ाते चले जाएँगे और अमीरों का तबक़ा जैसे-जैसे सरकारी संस्थाओं से हट कर निजी संस्थाओं में जाता रहेगा, वैसे-वैसे पूरे समाज की सरकारी स्कूलों में रुचि कम होती जाएगी। तो, आज अगर हम 'शिक्षा की गुणवत्ता' की बात कर रहे हैं तो इसलिए कि विश्व बैंक की शर्तें लागू करवाते हुए हम स्कूलों की शिक्षा और कॉलेजों की शिक्षा ख़त्म करते चले जा रहे हैं। आप ग्रांट ही नहीं देते, फ़ण्ड ही नहीं देते। ऐसे में जिनके पास पैसा है वे अपने बच्चों को निजी स्कूलों में डाल रहे हैं।

तो ये सोची समझी नीति है। अगर सारा समाज अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजेगा। इलाहाबाद हाई कोर्ट ने यह फ़ैसला दिया था कि सब बच्चे कॉमन स्कूल में जाएँ, पर कोई लागू करने को तैयार नहीं है। उत्तर प्रदेश सरकार ख़ुद इस फ़ैसले को लागू कराने को तैयार नहीं है। देशभक्ति की बातें सब बहुत करते हैं और पूरी जनता की बात करते हैं। 'सबका साथ सबका विकास' की जाती है, लेकिन इस समाज में सारे बच्चे एक क़िस्म के स्कूलों में पढ़ें, ये क्यों लागू नहीं हो सकता। एक बहुत मशहूर उदाहरण है कि तमिलनाडु के एक कलेक्टर ने जैसे ही अपनी बच्ची को बाजू के ज़िला पंचायत के स्कूल में भेजा, जिसकी हालत ख़राब थी, वैसे ही अगले दिन सारे अधिकारी पहुँच गये कि स्कूल की व्यवस्थाएँ ठीक की जाएँ। बिजली का कनेक्शन आ गया, टॉयलेट बन गये क्योंकि कलेक्टर की बेटी उस स्कूल में जा रही थी।

इस समाज के यदि सारे अमीर लोग अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजेंगे और सारे ग़रीब अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजेंगे तो किसका ध्यान जाएगा सरकारी स्कूलों पर। इसका नतीजा है कि चालीस फ़ीसदी स्कूलों में आज तक बिजली नहीं है। आधे से ज़्यादा स्कूलों में सुरक्षा दीवार नहीं है। टॉयलेट अभियान चला हुआ है पर अभी आँकड़ा आया है कि पच्चीस से तीस प्रतिशत स्कूलों में टॉयलेट नहीं है। आज मीडिया उस पर फ़ोकस नहीं करती क्योंकि इसमें किसी की दिलचस्पी नहीं है। देश का जो पूरा ऊपरी तबक़ा है, मध्यम वर्ग है, उसने अपने बच्चों को इन स्कूलों से बाहर निकाल लिया है और निजी स्कूलों में भेजता है। इसलिए बहस चलती है कि गुणवत्ता को ठीक किया जाए। तो भई, गुणवत्ता तो तभी बढ़ेगी जब आप ग्रांट देंगे। पिछले पाँच बजट में स्कूली शिक्षा के बजट में 33 प्रतिशत की कटौती हुई है। 2014-15 का जो आँकड़ा लिया जाए और इस साल का आँकड़ा लिया जाए और रियल टर्म में लागू किया जाए। एब्सुल्यूट टर्म में भी कम है। रियल टर्म में भी जोड़ा जाए तो स्कूली शिक्षा के बजट में तैंतीस प्रतिशत की कटौती हुई है। मेरे पास आँकड़े हैं। उच्च शिक्षा के बजट में सात प्रतिशत कटौती हुई है। बात हो रही है कोठारी कमीशन के सुझाव लागू करने की। हर बार सरकार यही वायदा करती है कि कुल घरेलू उत्पाद का छह प्रतिशत शिक्षा को दिया जाएगा। इकॉनॉमिक सर्वे मानता है कि शिक्षा पर बजट जीडीपी का 3.1 प्रतिशत था। यह 12-13 में था, अब घट कर 2.7 हो गया है। इस साल बजट में और भी कटौती की गयी है। राज्यों की हालत वैसे ही ख़राब है तो कुल बजट कम ही होगा। यानि 2.7 से घट कर कहाँ पहुँचेगा पता नहीं।

क्या इनके पास पैसे नहीं हैं। पैसे हैं, पर देना नहीं चाहते हैं। ये सारी बात कि पैसे नहीं हैं इसलिए सरकार ज़िम्मेदारी नहीं ले सकती, ग़लत है। छह प्रतिशत जीडीपी का मतलब है सवा ग्यारह लाख करोड़ रुपये। सवा ग्यारह लाख करोड़ में से यदि हम आँकड़ा लें तो केंद्र सरकार का शेयर पूरे बजट में 17 प्रतिशत का रहता है। मान लीजिए इसे बढ़ा दिया जाए और 25 प्रतिशत कर दिया जाए तो केंद्र का शेयर होता है 2.8 लाख करोड़। उसमें से अभी फ़िलहाल सरकार 85 हज़ार करोड़ ख़र्चा कर रही है। यानी अतिरिक्त हुआ दो लाख करोड़ का। क्या इनके पास दो लाख करोड़ नहीं है ? ये 5.5 लाख करोड़ अमीरों को हर साल टैक्स रियायत देते हैं। यह बजट का आँकड़ा है। बजट का एक मुख्य हिस्सा है जिसकी अख़बार में चर्चा नहीं होती। जिसे नाम दिया गया है टैक्स इन्सेंटिव। असल में ये टैक्स रियायत है। 5.5 लाख करोड़ ये टैक्स रियायत देते हैं। यह एक ही आँकड़ा है। और भी आँकड़े हैं। ये क़र्ज़ माफ़ियाँ भी देते हैं। क़र्ज़ माफ़ी का अप्रत्यक्ष संबंध बजट से होता है क्योंकि आपको बैंक को फिर से पूँजी देनी होती है।

बैंक जब घाटे में जाते हैं तो वे सरकार को जो डिविडेंट देते हैं वो कम हो जाता है। यानि सरकार की करों के अलावा आमदनी कम हो जाती है। अभी जो 95 लाख का एनपीए (वापिस न हो सकने वाले क़र्ज़) जो सरकार माफ़ करने जा रही है, उन्होंने उसका नाम दिया है 'हैयर कट पॉलिसी'। मज़ेदार नाम है। मुझे तो यक़ीन ही नहीं हुआ कि ऐसी भी पॉलिसी हो सकती है। तो वह हैयर कट पॉलिसी और दूसरी नीतियों को
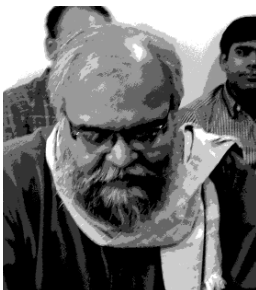
एक बड़ा तबक़ा उच्च शिक्षा में पहली बार प्रवेश कर रहा है। चीन और भारत में शायद शिक्षा के क्षेत्र में मानव इतिहास की सबसे बड़ी क्रांति हुई है। ... एक तरफ़ तो हमारे समाज को यह ऊर्जा देता है, वहीं दूसरी तरफ़ एक तरह का ख़तरा भी है कि जिन आशाओं के साथ यह युवा उच्च शिक्षा में आये हैं, अगर उन आशाओं पर पानी फिर जाता है तो फिर आक्रोश के भड़कने का बड़ा अंदेशा है।

जोड़ कर देखा जाए तो वह आँकड़ा बीस लाख करोड़ रुपये का बनता है। यानी लगभग 11 लाख करोड़ हो चुका है और होने जा रहा है। अभी कुछ आँकड़े नहीं हैं मेरे पास कि कितने क़र्ज़ माफ़ किये हैं मोदीजी ने। एक ही आँकड़ा मुझे पता चला कि रिलायंस का सोलह हज़ार करोड़ का गैस के धंधे वाला जो क़र्ज़ था उसे आगे बढ़ा कर 2021 तक कर दिया गया है। अंततः उसे भी माफ़ कर दिया जाएगा।

इसके अलावा सारे खनिज संसाधन उठा कर निजी क्षेत्रों को देते जा रहे हैं। सिर्फ़ गैस का भण्डार जो रिलायंस को सौंपा गया है उसमें सरकार को दो लाख करोड़ का नुक़सान हुआ है। इस तरह के तमाम आँकड़े गिनाए जा सकते हैं। सड़कों पर जो तमाम हाईवे बन रहे हैं, उन्हें सरकार ग्रांट देती है। हर हाइवे पर सरकार 40 प्रतिशत ग्रांट देती है। यह क़र्ज़ नहीं हैं ग्रांट है। इनका हाईवे बनाने का इस साल का बजट 71 लाख करोड़ का है। यानि इतना सरकार ग्रांट देने वाली है निजी क्षेत्र को हाईवे बनाने के लिए। वे टोल (चुंगी) वसूलते हैं वह अलग है। वह सरकार को नहीं जाता। तो ये डबल फ़ायदा है। एक तरफ़ 40 प्रतिशत ग्रांट है दूसरी तरफ़ टोल टैक्स। स्कूली शिक्षा का बजट 50 हज़ार करोड़ रुपये है। तो स्कूली शिक्षा ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है या हाइवे कम्पनी को ग्रांट देना। तो क्यों न शिक्षा पर बजट बढ़ाया जाए? जब सारा पैसा कॉरपोरेट हाउस की जेब में डाल देंगे, तो पैसे बचेंगे कहाँ से। फिर कहते हैं कि सामाजिक क्षेत्र में ख़र्च के लिए पैसा नहीं है। जब पैसा नहीं होगा तो गुणवत्ता कहाँ से आएगी।

अंत में मेरा यही कहना है कि शिक्षा की माँग यही होनी चाहिए कि शिक्षा कॉमन स्कूलिंग पर हो। सारे बच्चे बाजू के स्कूल में पढ़ने जाएँ। चाहे अमीर का बच्चा हो या ग़रीब का बच्चा हो। और सरकार को देश के स्तर पर सारी शिक्षा उपलब्ध कराने की ज़िम्मेदारी लेनी होगी।

सतीश देशपांडे : जो हमारी चर्चा है, उसमें पूनमजी ने महत्त्वपूर्ण बात कही है कि निजीकरण और मुनाफ़ा-उन्मुखता में फ़र्क़ है। शिक्षा में जो ग़ैर-मुनाफ़ा क्षेत्र है, उसके निजी होने से कोई ख़ास नुक़सान होता हो, ऐसा नहीं है। पर आम तौर पर निजीकरण का मतलब है फ़ायदे के लिए शिक्षा का व्यवसाय करना। इसीलिए उद्योगपति और व्यापारी इस क्षेत्र में आते हैं। उनकी मुनाफ़ा-केंद्रीयता से कुछ सवाल पैदा होते हैं : निजीकरण से जुड़े कुछ सवालों में सबसे अहम सवाल तो यही है कि क्या निजीकरण के दायरे में शिक्षा तक सबकी पहुँच होगी या नहीं होगी? दूसरा सवाल है कि इस पर किसका और किस प्रकार का नियंत्रण? इसकी दिशा क्या होगी? इसमें जिस तरह की पढ़ाई होगी वह किस तरह की होगी? ऐसी शिक्षा कितनी महँगी होगी और इसके तहत क्या पढ़ाया जाएगा? आपने कहा है कि स्कूली शिक्षा, उच्च शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा इन सब पर एक साथ बात करनी है। तो यह दोनों सवाल निजीकरण को ले कर अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग तरह से लागू होते हैं।

स्कूली शिक्षा में सबसे बड़ी बात यह है कि इस स्तर पर सत्तर के दशक में एक बहुत बड़ी क्रांति आयी और हमने इस पर ध्यान ही नहीं दिया। अब हम चौंक कर कह रहे हैं कि यह कैसे हो गया, यह हमें समझ नहीं आ रहा!

वह बड़ी क्रांति थी मध्यम वर्ग और सम्पन्न वर्ग द्वारा सरकारी स्कूली शिक्षा से मुँह मोड़ लेना। यानी जो मुखर वर्ग था और जो सार्वजनिक संसाधनों के बारे में जानता था, उनके बारे में कह सकता था, उसने इस दायरे में दिलचस्पी लेना बंद कर दी। नतीजा यह निकला कि सरकारी स्कूलों की हालत लगातार बिगड़ती चली गयी सत्तर के दशक के बाद से, और हमने इस पर ध्यान नहीं दिया। यह एक बड़ी बात है क्योंकि दुनिया

के लगभग हर विकसित देश ने, चाहे वह किसी भी राजनीतिक प्रणाली या विचारधारा के तहत हो, चाहे पूँजीवाद हो या साम्यवाद, यूरोप, अमेरिका, सोवियत यूनियन या क्यूबा हो— सब जगह सार्वजनिक स्कूल ही शिक्षा के आधार रहे हों। यानी सभी बच्चे एक मुहल्ले या पड़ोस के बच्चे स्कूल में जाते हैं। वह एक स्कूल था, सभी के लिए। ऐसा नहीं था कि इसको ले कर दिक़्क़तें भी आयी हों। इस नीति को लागू करना आसान नहीं है— लेकिन सब जगह इस नीति को लागू किया गया। लेकिन, हमने ऐसा नहीं किया, या जो हमारे पास था, उसके क्षरण की तरफ़ हमने ध्यान नहीं दिया। अब मेरे ख़्याल से इसे सुधार पाना बहुत मुश्किल है, क्योंकि जो निजी क्षेत्र है, उसकी जड़ें गहरी बन चुकी हैं और लोग समझने लगे हैं कि कुछ मजबूरी हो तभी वे बच्चों को सरकारी स्कूल में भेजेंगे।

उच्च शिक्षा में निजीकरण का सवाल बिल्कुल अलग है, क्योंकि वहाँ जो उच्च कोटि के संस्थान माने जाते हैं या गुणवत्ता के संस्थान माने जाते वे मोटे रूप में अभी भी सरकारी संस्थान हैं। यानी अभिजन वर्ग को सरकारी क्षेत्र की उच्च शिक्षा में अभी भी दरकार है। इसी की वजह से उच्च शिक्षा में निजीकरण को ले कर, सरकारी संस्थाओं को ले कर, आरक्षण जैसी नीति को ले कर बहुत टकराव की स्थिति है। बहुत तनाव है पिछले एक दशक से।

इस क्षेत्र में एक बहुत बड़ा बदलाव जो आया है, वह है छात्र समूह का चरित्र। इस समूह की सामाजिक संरचना बुनियादी तौर पर बदल चुकी है और इसके कारण भी टकराव बढ़ रहा है। इसके कारण जो तनाव पैदा होता है, उसका एक स्वरूप गुणवत्ता के प्रश्न के रूप में भी सामने आता है। लेकिन इसका गुणवत्ता से कुछ-कुछ वास्ता है, कुछ-कुछ नहीं भी। इस तरह निजीकरण का प्रश्न उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कुछ इस तरह आता है कि स्कूली शिक्षा के साथ जो सत्तर के दशक में हुआ, क्या उच्च शिक्षा के साथ आज हो रहा है? लेकिन निजीकरण का यहाँ इतनी जल्दी बोलबाला होना आसान नहीं है क्योंकि यहाँ लागत बहुत लगती है।

इसीलिए उच्च शिक्षा का जो भी निजीकरण हो रहा है वह ज़्यादातर व्यावसायिक शिक्षा में हो रहा है। आपने अभी व्यावसायिक शिक्षा की भी बात की थी। व्यावसायिक क्षेत्र में बताया जाता है कि 2001 के बाद जो संस्थाएँ बनी हैं उनमें 78 प्रतिशत निजी क्षेत्र में हैं। यानी जो पूरी तरह से निजी हैं, अर्थात् पूरी तरह से इस पर निजी क्षेत्र हावी है, और यह आज के भारत का एक बहुत बड़ा कमाऊ उद्योग है। इसमें राजनेता मिले हुए हैं, उद्योगपति मिले हुए हैं और बहुत हद तक इसके उपभोक्ता भी मिले हुए हैं। यह जानते हुए कि यहाँ की पढ़ाई दोयम या तीसरे दर्जे की है, फिर भी वे यहाँ जाते हैं। क्योंकि उन्हें दरकार है डिग्री की, क़ानूनी मान्यता की, जिससे वे अपने बेटे-बेटियों को अपने ख़ानदानी पेशे, चाहे डॉक्टरी हो या वकालत, में घुसा सकें, वहाँ उनके लिए आधार बना सकें।

तो, निजीकरण का सवाल अलग-अलग स्तरों पर अलग-अलग ढंग से सामने आता है। इसका विश्लेषण अलग-अलग ढंग से करना ज़रूरी है। आज अगर हम शिक्षा के क्षेत्र में कोई बुनियादी बदलाव लाना चाहें तो ऐसा कर पाना बहुत ही मुश्किल हो गया है। यदि इसे करना है तो कम से कम एक सामाजिक क्रांति ही करनी पड़ेगी। उससे कम में बात नहीं बनेगी, सुधारवाद से बात नहीं बनेगी— क्योंकि मामला बहुत बिगड़ चुका है। काफ़ी दूर तक हम पहुँच चुके हैं। इसलिए अभी इस पर कुछ कह पाना मुश्किल है। मुझे लगता है कि उच्च शिक्षा के साथ बहुत सारी आशाएँ जुड़ी होती हैं। एक बड़ा तबक़ा उच्च शिक्षा में पहली बार प्रवेश कर रहा है। चीन और भारत में शायद शिक्षा के क्षेत्र में मानव इतिहास की सबसे बड़ी क्रांति हुई है। एक बड़ा विशाल वर्ग पहली बार उच्च शिक्षा में प्रवेश कर रहा है और उसके बहुत सारे मंसूबे शिक्षा के इस क्षेत्र से संलिप्त हैं, बहुत सारे अरमान हैं, गतिशीलता की आशा है, तरक़्क़ी की आशा है। तो, एक तरफ़ तो हमारे समाज को यह ऊर्जा देता है, वहीं दूसरी तरफ़ एक तरह का ख़तरा भी है कि जिन आशाओं के साथ यह युवा उच्च शिक्षा में आये हैं, अगर उन आशाओं पर पानी फिर जाता है तो फिर आक्रोश के भड़कने का बड़ा अंदेशा है। जिसकी बार-बार दुहाई दी जा रही थी, ख़ासकर दस एक साल पहले। डेमोग्राफ़िक डिविडेंट जिसे कहते हैं उसके अनुसार युवाओं का अनुपात भारत की जनसंख्या में ज़्यादा है। इस वजह से यह समझा जा रहा था कि विकास की दृष्टि से भारत को काफ़ी फ़ायदा है— पर यही फ़ायदा नुक़सान में भी बदल सकता है। अगर यह आक्रोश बढ़ता चला गया और इस पर हम नियंत्रण नहीं पा सके, युवाओं को हम आशा की कोई किरण नहीं दिखा पाए तो इसके अंजाम बहुत बुरे होंगे हमारे समाज के लिए। और जिस सामाजिक क्रांति की हम बात कर रहे हैं वह विपरीत दिशा भी ले सकती है। वह गृहयुद्ध में भी बदल सकती है।

अतुल कोठारी : नीरजजी का कहना है कि दुनिया में स्थिति अलग है और हमारे यहाँ अलग है। दुनिया में तो ऐसा नहीं है, सबके लिए कॉमन स्कूलिंग हैं यानी दोनों में विरोधाभासी स्थिति है। इसलिए मेरे मन में यह सवाल आया।

नीरज जैन : वैश्वीकरण की बात सिर्फ़ भारत में नहीं है। परिस्थितियाँ सब जगह बदल रही हैं और सब जगह शिक्षा व्यापार बनती चली जा रही है। फ़र्क़ यह है कि बहुत से देशों ने, जैसे ईस्ट एशिया के देशों ने शुरू में अपने सारे बच्चों को शिक्षित किया और काफ़ी बड़े पैमाने पर निवेश किया। अभी क्या हालत है मैं नहीं जानता। यदि हम यह मान कर चले कि विश्व बैंक की नीतियाँ सारे देशों में लागू हो रही हैं। जैसे मुझे पता है कि निजीकरण लागू किये जाने की कोशिश की जा रही है। यह जो सदियों की समझ थी उसे उलटा जा रहा है। जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था जड़ता का शिकार हो रही है वैसे-वैसे हर क्षेत्र को नफ़ा कमाने के साधन में बदला जा रहा है। मैंने बाहर का उदाहरण इसलिए नहीं दिया कि हर चीज़ में बाहर की नक़ल की जाए। मेरा यह तर्क नहीं है कि आज अगर वे उलट रहे हैं तो हम भी करें। हमने तो बुनियादी काम ही नहीं किया। तो पहले बुनियाद तो ठीक की होती। फिर भी हम विरोध करेंगे। दूसरी जगहों पर भी हो रहा है। अमेरिका के शिकागो में इस उलटने का बहुत जम कर विरोध हुआ है। अध्यापकों ने आंदोलन किया है कि यह नहीं चलेगा। ब्रिटेन में बहुत बड़ा आंदोलन हुआ है। चिली में ज़बरदस्त विद्यार्थी आंदोलन चल रहा है कि निजीकरण नहीं चलेगा। जिन जगहों पर लोगों को कुछ मिला है, लोगों की अपेक्षाएँ बनी हैं, वहाँ विरोध हो रहा है बड़े पैमाने पर।

हमारे यहाँ दिक़्क़त यह है कि यहाँ कभी अपेक्षा ही कभी नहीं बनी। लोगों में वह चेतना ही नहीं है। शिक्षा हमारा अधिकार है, यह चेतना ही नहीं है। सतीशजी की मैं इस बात से सहमत हूँ कि आज सामाजिक क्रांति से ही बात बनेगी। जनता का शामिल होना ज़रूरी है, क्योंकि इसमें बहुत सारे मुद्दे हैं।

अतुल कोठारी : सतेंद्रजी, आपने कहा कि वर्ग सरकारी संस्थाओं से विमुख हो रहा है, इसका क्या संदर्भ है?

सतेंद्र कुमार : मैं यहाँ यह कहना चाहता था कि नव-उदारतावाद की जो नीतियाँ हैं, उसमें दो-तीन चीज़ें हैं। तमाम दुनिया के देशों में सरकारों ने अपनी प्राथमिक शिक्षा को ठीक करने के काम किये जिससे उन्हें लाभ मिला। यह एक साफ़ रास्ता था। आप सत्तर-अस्सी के दशक को भी देखें तो बहुत साफ़ था कि बच्चे सरकारी स्कूल में जाएँगे, युनिवर्सिटी में जाएँगे और पढ़ कर निकलेंगे। धीरे-धीरे निजी शिक्षा अस्सी के दशक के बाद पहले प्राथमिक स्कूलों में और बाद में उच्च शिक्षा में पैठ बनाती गयी। छोटे कस्बों और गाँवों में अगर देखें तो यह बात निकल कर आएगी कि कैसे अभिभावकों ने धीरे-धीरे अपने बच्चों को सरकारी स्कूल से निकाल कर निजी स्कूल में भेजना शुरू किया। अमेरिका में भी अस्सी के दशक के बाद यह बड़ी बहस चल रही है और लोग इससे दो-चार हो रहे हैं। वहाँ भी यह बड़ा संकट आया है। लेकिन वहाँ का संकट दूसरे तरह का, यहाँ की तरह प्रत्यक्ष नहीं है। दूसरे पब्लिक गुड्स का मैं उदाहरण देकर मैं यह बताने की कोशिश कर रहा था कि यदि अभिजन वर्ग किसी भी पब्लिक गुड्स से, चाहे वह स्कूल हो, चाहे अस्पताल हो, अगर हाथ खींच लेता है तो उन संस्थाओं को चलाने में समाज का जो अंकुश है, समाज का जो हस्तक्षेप होता है, वह कम हो जाता है। इसका एक उदाहरण मैं आपको इसी समाज से दे सकता हूँ। इलाहाबाद में एक पार्क है जिसे कम्पनी गार्डन बोलते हैं। अब उसका नाम बदल कर चंद्रशेखर आज़ाद उद्यान रख दिया गया है। उस पार्क में सारे जज, वकील टहलने आते हैं। उन्होंने उस पार्क के रख-रखाव के लिए मजबूत बंदोबस्त किया है। उत्तर प्रदेश में ऐसे पार्क मिलने मुश्किल हैं। यह तभी सम्भव हो सका जब इलाहाबाद के मज़बूत तबक़े ने पार्क में रुचि ली। मेरा यही कहना था कि यह ग्लोबल परिघटना है कि लोगों ने अपनी रुचि बदल दी है।

अतुल कोठारी : मेरा इसमें थोड़ा कहना यह है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने सभी को सामान रूप से प्रभावित किया हो, ऐसा नहीं है शायद। क्योंकि जिन देशों ने अन्यों को लूटने का प्रयास किया उन्होंने अपने लिए तो मानदण्ड अलग रखे और दूसरों के लिए कुछ और रखे। मैं तो ज़्यादा विदेश गया नहीं हूँ, पर एक

बार अमेरिका गया था। जिन्हें हम सरकारी स्कूल कहते हैं अपने यहाँ, वहाँ उन्हें पब्लिक स्कूल कहते हैं। वहाँ ये पब्लिक स्कूल बहुत सुंदर हैं। सरकारी व्यवस्था को मैं देखने गया। वहाँ प्राइवेट स्कूल बहुत कम हैं। पब्लिक स्कूल का स्तर बहुत अच्छा है। वहाँ की जो प्राइवेट युनिवर्सिटीज़ भी हैं, जो शायद पहले हमारी परम्परा थी कि व्यक्ति अपनी सारी पूँजी दे देता था मृत्यु के बाद स्कूल खोलने या कॉलेज बनाने के लिए लिए। संतानों को नहीं दिया। परिवार को नहीं दिया। इसी तरह से वहाँ प्राइवेट युनिवर्सिटी है। उस युनिवर्सिटी में छात्र परिषद है। उसके माध्यम से इतनी व्यवस्थाएँ की गयी हैं कि कोई बच्चा प्रतिभावान है, चाहे वह ग़रीब हो या अमीर, सबको प्रवेश मिल सकता है। उन्होंने अपने देश में इस प्रकार की व्यवस्थाएँ खड़ी की हैं। हमारे यहाँ स्वतंत्रता के पहले और बाद में भी, जैसे डीएवी, सनातन धर्म जैसे पब्लिक स्कूल हैं। ऐसी कई संस्थाएँ हैं, जिन्होंने विद्यालय, महाविद्यालय चलाए हैं। यह परम्परा हमारी बहुत पुरानी है कि समाज अपनी संस्थाएँ चलाएगा और सरकार का हस्तक्षेप इसमें नहीं होगा। जैसे सतीशजी ने कहा और मैं भी इस बात से सहमत हूँ कि सामाजिक क्रांति के बिना बहुत कुछ नहीं बदलेगा। जो स्थितियाँ आज हैं वे एक लम्बे समय का परिणाम है। जैसे कि कहते हैं कि रेल की पटरियाँ ठीक समानांतर चलती हैं, दस किलोमीटर बाद भी समानांतर ही रहेंगी और थोड़ा डाइवर्जन कभी हुआ तो वह फ़ासला इतना बड़ा हो जाता है कि पाटना मुश्किल हो जाता है। देश में ऐसी स्थितियाँ ही बन रही हैं।

पूनम बत्रा : आपका जो भी कहना हो, मैं अमेरिकी पब्लिक स्कूल सिस्टम की इस छवि से सहमत नहीं हूँ। लेकिन वहाँ पर भी सेगरेगेशन, इनइक्विटी ज़बरदस्त रही है। और एक ज़माने में तो सेगरेगेटिड स्कूल भी होते थे। पर यह सही है कि अभी भी 90 फ़ीसदी बच्चे सरकारी स्कूल में जाते हैं। युनिवर्सिटी स्कूल और चार्टर स्कूल का पूरा एक दौर चला, इसलिए तो शिक्षक हड़ताल पर हैं। दरअसल यह इतना आसान सवाल नहीं है। मुझे लगता है विषमता का जो सवाल है, वह सभी देशों में है। और यह भी मान लेना कि अंग्रेज़ों की नीति की अनुक्रिया में राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा खोली गयी संस्थाओं पर हम जब कुछ इतिहासकारों के पर्चे पढ़ते हैं तो उसमें से सवाल निकलता है कि हमारे राष्ट्रवादी नेताओं ने भी शिक्षा की उपनिवेशवादी व्यवस्था की तरफ़दारी की थी। एक एलीट ग्रुप का निजी स्वार्थ भी तो था। सरकारी स्कूलों की उपेक्षा जो है वह हम नहीं कह सकते कि एक रात में हुआ बदलाव है।

*(**कं. श. :** आज़ादी के पहले खोली गयी शिक्षा संस्थाओं को हम मुनाफ़ाख़ोरी वाली श्रेणी में नहीं गिनते। लेकिन आपका कहना है कि कुछ ऐसे अध्ययन हुए हैं जो उन संस्थाओं वैसी चमकदार तस्वीर पेश नहीं करते जो हमारे दिमाग़ में है। क्या इसे आप साफ़ करेंगी?)* इसमें दो-तीन बातें हैं। एक यह कि उपनिवेशवाद काल में एक संघर्ष था कि हम सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा अनिवार्यतः दें। 1911 में जो गोखले बिल था, उसमें यह बात रखी गयी थी कि हमें प्राथमिक शिक्षा मुफ़्त और अनिवार्य करनी चाहिए। कुछ इतिहासकारों ने इस पर शोध करके बताया है कि हमारे अपने राष्ट्रवादी नेताओं में ऐसे कई थे जो ख़ुद नहीं चाहते थे कि प्राथमिक शिक्षा सभी के लिए मुफ़्त और अनिवार्य बन सके। जन-शिक्षा की ज़रूरत पर एक विभाजन था समाज में और सोच भी। यह केवल अंग्रेज़ों के कारण नहीं हुआ बल्कि हमारे ख़ुद के राष्ट्रवादियों की सोच से भी आया। (***कं. श. :** वे इतिहासकार कौन थे? और वे राष्ट्रवादी नेता कौन थे? क्या उनके नाम आप बता सकती हैं?*) इसके लिए आपको एक पर्चा देखना होगा। परिमला राव हैं, वे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में इतिहासकार हैं। *कंटेम्परेरी एजुकेशन डायलॉग* (सीईडी) में भी उनका पर्चा छपा था। वर्ष मुझे याद नहीं है, पर आप देख सकती हैं। दूसरी बात यह है कि उस दौरान हमारे कॉरपोरेट घरानों ने भी शिक्षा में निवेश किया, पर मुनाफ़ाख़ोरी के लिए नहीं बल्कि सेवाभाव। मैं शायद इसी विभाजन की बात कर रही थी। प्राची श्रीवास्तव ने इस बात को बहुत अच्छे से रखा है। उनका पर्चा भी आप सीईडी में देख सकते हैं। उनका काम है '**न्यू फ़िलान्थ्राफ़ी ऑफ़ टूडेज़ कांटेक्स्ट**'। यह बिल्कुल अलग चीज़ है। आज के समय में उच्च शिक्षा में तो प्रॉफ़िट मेकिंग है ही, प्राइमरी शिक्षा में भी है। यह एक पूरा ग्लोबल नेटवर्क है जो कह रहा है कि अगर हम प्राइवेट स्कूल ग़रीबों के लिए भी खोलें तो भी लाभ कमा सकते हैं। यह जेम्स टुली का काम है और उनके साथ जुड़े कई लोग हैं। इस पर गीता नांबिसन ने बहुत अच्छा लिखा है। उनकी किताब भी है और पर्चा भी है। *जर्नल ऑफ़ पॉलिसी* में शायद आया है उनका पर्चा।

मैं इस तरह के विभाजन को समस्याग्रस्त मानती हूँ कि अंग्रेज़ों से पहले का समय बहुत शानदार था,

मैं इस तरह के विभाजन को समस्याग्रस्त मानती हूँ कि अंग्रेज़ों से पहले का समय बहुत शानदार था, उस समय शिक्षा बहुत अच्छी थी और अध्यापक स्वायत्त थे। पर शायद लोग शिक्षा पर ब्राह्मणों के अधिकार को भूल जाते हैं। यह एक तरीक़ा है भारत में उपनिवेशवाद से पहले की शिक्षा की भव्य तस्वीर खींचने का। ... शायद शिक्षक इसलिए स्वायत्त था क्योंकि वो रामायण के पाठ कराता था— और यह 1980-90 तक हुआ है।

उस समय शिक्षा बहुत अच्छी थी और अध्यापक स्वायत्त थे। पर शायद लोग शिक्षा पर ब्राह्मणों के अधिकार को भूल जाते हैं। यह एक तरीक़ा है भारत में उपनिवेशवाद से पहले की शिक्षा की भव्य तस्वीर खींचने का। मुझे लगता है इस पर टिप्पणी करना ज़रूरी है, क्योंकि इस तरह से दो छोर बनाना ठीक नहीं है कि आज की जो शिक्षा है वह पूरी तरह से कोलोनियल ढाँचे में है और पुराने ज़माने में हमारी शिक्षा में तो हमारा शिक्षक भी इतना स्वायत्त था। शायद शिक्षक इसलिए स्वायत्त था क्योंकि वो *रामायण* के पाठ कराता था— और यह 1980-90 तक हुआ है। हमने ख़ुद देखा है स्कूलों में। मध्य प्रदेश के गाँवों में आधा दिन सिर्फ़ *रामायण* ही चलती थी। हमें इस परिप्रेक्ष्य में शिक्षा दी क्या जाती थी— इसे भी समझने की ज़रूरत है। इस पूरे संवाद में शिक्षा की विषयवस्तु पर ज़्यादा टिप्पणी नहीं हुई है, जबकि आज का सबसे बड़ा मुद्दा यही है कि हम किस तरह की शिक्षा में किस तरह की सामग्री देना चाहते हैं— प्राथमिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक। कई बार यह हुआ है। यूपीए के ज़माने में भी रामानुजम की विभिन्न रामायणों वाली रचना को पाठ्यक्रम से निकाल दिया गया था। आज जो एकल विद्यालय हैं, विद्या भारती है, शिशु मंदिर हैं— इस तरह के विद्यालय बड़ी संख्या में खुल रहे हैं। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए भी आरएसएस की कई संस्थाएँ काम कर रही हैं, यानी शिक्षकों का प्रशिक्षण भी उसी फ्रेम में हो रहा है। तो, यहाँ यह भी समझना ज़रूरी है कि अध्यापकों को क्या सामग्री दी जा रही है। *(**कं. श. :** लेकिन, मान्यता तो एनसीटीई से ही मिलती है?)* वह तो है ही, मान्यता एनसीटीई ही देती है। तभी तो जस्टिस वर्मा कमेटी बनी। 291 संस्थानों को महाराष्ट्र में मान्यता मिली— वे भी सारे निजी थे। इसके बावजूद महाराष्ट्र सरकार बोल रही है कि हमें और टीचर नहीं चाहिए लेकिन एनसीटीई ने मान्यता दी। वह रेगुलेटरी बॉडी है पर उसने शिक्षा प्रणाली में शिक्षकों के प्रशिक्षण को लेकर बहुत सारी समस्याएँ उत्पन्न की हैं। जो मूल काम है वह एनसीटीई ने नहीं किया।

मैं एक बात अभी भी कहूँगी कि भले ही नीतिगत रूप से हमने दरकिनार कर दिया हो पर 85 फ़ीसदी बच्चे अभी भी प्राथमिक स्तर पर सरकारी स्कूलों में ही जाते हैं। माध्यमिक व उच्च माध्यमिक स्तर पर काफ़ी निजीकरण शुरू से ही था, क्योंकि प्राइवेट स्कूलों में ज़्यादा बच्चे एलिमेंट्री से सेकेंडरी की तरफ़ नहीं जाते थे बड़ी तादाद में। अभी भी वह संख्या बहुत ज़्यादा है। और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में तो प्राइमरी स्कूलों का भी निजीकरण बहुत बड़े पैमाने पर हो चुका है।

दूसरी बात मैं कहना चाहूँगी उच्च शिक्षा के स्तर के बारे में। बीएड का जो कोर्स है वह युनिवर्सिटी से जुड़ा मामला है। बीएड के जो संस्थान हैं उसके 95 फ़ीसदी निजी हैं। हमारे देश में क़रीब 16,000 शिक्षक शिक्षा संस्थान हैं जो एनसीटीई से मान्यता प्राप्त किये हुए हैं। इनमें से भी 90 से 95 फ़ीसदी संस्थान निजी हैं। डाइट (डिस्ट्रिक्ट इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन ऐंड ट्रेनिंग) तो लगभग 500 हैं। हालाँकि इन्हें 600 से ज़्यादा होना चाहिए। बाक़ी सब निजी हैं, जो युनिवर्सिटी से नहीं जुड़े हुए हैं। वे तो उच्च शिक्षा से कहीं भी किसी भी तरह नहीं जुड़े हुए हैं। हाँ, वे युनिवर्सिटी से ज़रूर जुड़े हुए हैं, क्योंकि इसके बिना बीएड की डिग्री नहीं मिलेगी। लेकिन किसी भी तरह से उनका उच्च शिक्षा से लेना-देना नहीं है। वे अलग-थलग चल रहे हैं। इस पर जस्टिस वर्मा कमेटी ने ज़ोर दिया, सिफ़ारिशें दीं। पर मूल बात यह है कि यह निजीकरण का एक उदाहरण है। शिक्षकों की शिक्षा का 95 फ़ीसदी हिस्सा निजीकरण के कब्ज़े में है। ये उसी तरह से चल रहे हैं जैसे सतेंद्रजी ने बताया कि वर्चुअली ही जीवित हैं। फ़िजिकली तो हैं ही नहीं। इन्हें एक बहुत बढ़िया सम्मानित नाम दिया हुआ है। वह नाम है 'नॉन अटेंडिंग इंस्टीट्यूट'। यहाँ दो या ढाई लाख रुपये दीजिए और डिग्री मिल

जाएगी, लेकिन क्लास एक भी नहीं होगी। और सब जगह से मान्यता भी मिल जाएगी।

यह निजीकरण का एक सटीक बढ़िया उदाहरण है जो पूरी तरह से फल-फूल रहा है। जैसे प्रथम (हर वर्ष शिक्षा की स्थिति पर रपट प्रकाशित करने वाला ग़ैर-सरकारी संगठन) की रिपोर्ट कहती है कि आरटीई (शिक्षा पाने के अधिकार का क़ानून) की वजह से हमारे लर्निंग आउटकम फ़ेल हो रहे हैं। दरअसल, प्रथम की रिपोर्ट ग़लत कहती है क्योंकि ये निजी संस्थाओं से निक़ले हुए शिक्षक हैं जिनकी वजह से पूरे स्कूल सिस्टम में ही गिरावट आयी है। यह आरटीई की वजह से नहीं है क्योंकि आरटीई तो अभी 2010 से शुरू हुआ है। और, आज आवाज़ नहीं उठती कि आरटीई को इस तरह से उड़ाया जा रहा है। हर जगह जब आप कह रहे हैं कि पीने का पानी नहीं है, यह नहीं है, वह नहीं है तो आरटीई पूरी तरह से फ़्लोट हो रहा है। क्योंकि आरटीई की कोई ऐसी संस्था नहीं है। सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) जो है वो इंप्लीमेंटिंग एजेंसी है। वह एक प्रोजेक्ट है, एक स्कीम है। और आज की तारीख़ में यह अभी तक सार्वजनिक नहीं हुआ है पर यह निर्णय हो चुका है। कैबिनेट इसे स्वीकृति दे चुकी है और अख़बार में आया था कि सर्व शिक्षा अभियान और राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (आरएमएसए) और टीचर एजुकेशन स्कीम जो सातवीं योजना से केंद्र द्वारा प्रायोजित चली आ रही है— इन तीनों को मिलाया जा चुका है। इसलिए बजट में कटौती इतनी ज़्यादा हो गयी है। और, इसका यह भी मतलब हुआ कि आरटीई के लिए कोई वित्तीय आबंटन नहीं है। 1999 के बाद तपस मजूमदार कमेटी के बाद और न ही उसके लिए कोई ऐसी संस्था है। नैशनल कमीशन फ़ॉर प्रोटेक्शन ऑफ़ चाइल्ड्स राइट्स (एनसीपीसीआर) भी एक एजेंसी ही है।

दरअसल मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि हमें केवल एक सामाजिक क्रांति का इंतज़ार है और उसके बिना कुछ नहीं होगा। मुझे लगता है हमें नीतिगत स्तर पर हमें बहुत गहराई से देखना होगा कि कहाँ पर किस तरह की ट्रैजेक्टरी सोचे-समझे तरीक़े से आगे बढ़ाई गयी है। टीचर एजुकेशन को देख लीजिए जो 95 फ़ीसदी निजी क्षेत्र में है। यह केवल राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों के गठजोड़ से हुआ है। सबसे ज़्यादा निजी संस्थाएँ बीएड और डीएड वाली अर्जुन सिंह के समय खुली थीं। तो इसमें बहुत साफ़ नेक्सस है। उनके लिए यह एक राजनीतिक पूँजी है। इसे समझा जाना होगा और यह पॉलिसी से जुड़ा सवाल है। आप एक शून्य, एक स्पेस छोड़ देते हैं जिसे निजी खिलाड़ी भर देते हैं।

जहाँ तक स्कूलों के निजीकरण की बात है, मुझे लगता है वहाँ तो एक पूरा ग्लोबल नेटवर्क है, जो काम करता है। यह सिर्फ़ राष्ट्र के स्तर का नहीं है। जेम्स टुली से लेकर दूसरे लोगों का पूरा फ़ोकस उस पर है। आपने कहा कि बहुत सी संस्थाओं का निजीकरण अंदर से हो गया है। यही मैं भी कहना चाहती हूँ कि बहुत सी केंद्रीय और राज्य स्तर की संस्थाओं के सलाहकार के तौर पर ये लोग ही काम कर रहे हैं। बड़ी संख्या में ये लोग मिलेंगे जो बोलते हैं कि नये लोग शामिल होंगे, नवाचार होंगे, लेकिन यहाँ एक पूरा नेक्सस काम करता है। लेकिन हमें समझना होगा कि कहाँ हस्तक्षेप करना है, कैसे हस्तक्षेप करना है। और इसमें कोई शक नहीं है कि बहुत से आंदोलन देश में चल रहे हैं।

आपने बहुत उदाहरण दिए है। साउथ अफ़्रीका में टीचर यूनियन ने रोक लगा दी कि नैशनल असेसमेंट नहीं होगा। हम भी अपने देश में इसे बो चुके हैं। हमारे दो राज्य पीज़ा (प्रोग्राम फ़ॉर इंटरनैशनल स्टूडेंट एसेसमेंट) में आ चुके हैं। अब फिर कोशिश की जा रही है कि पीज़ा, टिम्स (ट्रेंड्स इन इंटरनैशनल मैथामैटिक्स ऐंड साइंस स्टडीज़), पर्ल्स (प्रैक्टीकल एक्सट्रैक्शन ऐंड रिपोर्टिंग लैंग्वेज) जैसे इंटरनैशनल सेंटर हैं, उसमें जाएँ। साउथ अफ़्रीका में शिक्षक इसे रोकने में सफल हो चुके हैं पर अभी बातचीत चल रही है। हम नहीं जानते कि आगे क्या होगा। ये जो पूरा एक इंटरनैशनल असेसमेंट स्टैंडर्ड है, वह भी एक बहुत बड़ी भूमिका निभा रहा है, स्कूलों और टीचर एजुकेशन में जो हो रहा है उस संदर्भ में। क्योंकि 2012 की जस्टिस वर्मा कमेटी के बावजूद बहुत से ऐसे प्रयास हुए हैं जो इस बात को नकारते हैं कि टीचर एजुकेशन के कार्यक्रम को पूरी तरह से युनिवर्सिटी सिस्टम से जोड़ा जाना आवश्यक है। अभी भी वह सोच जारी है कि हम तीन-चार हफ़्तों में एक शिक्षक को तैयार कर सकते हैं। इसी वजह से टीच फ़ॉर इण्डिया है और इस तरह के कई और कोर्स हैं। मेरा मतलब है कि यह ख़ुद में एक केस स्टडी है यह समझने के लिए कि कैसे निजी स्पेस को दरअसल अलग-अलग तरह की शिक्षा को निर्मित करने में प्रयोग किया जा रहा है।

अतुल कोठारी : यह कहना ठीक नहीं कि राष्ट्रवादियों ने जो कुछ विद्यालय, विश्वविद्यालय खोले, वे भी चोर थे सारे। तो दूसरी कौन सी विचारधारा ने काम किया। कितने वामपंथियों ने स्कूल खोले, कितने

टीचर एजुकेशन को देख लीजिए जो 95 फ़ीसदी निजी क्षेत्र में है। यह केवल राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों के गठजोड़ से हुआ है। सबसे ज़्यादा निजी संस्थाएँ बीएड और डीएड वाली अर्जुन सिंह के समय खुली थीं। तो इसमें बहुत साफ़ नेक्सस है। उनके लिए यह एक राजनीतिक पूँजी है। इसे समझा जाना होगा और यह पॉलिसी से जुड़ा सवाल है। आप एक शून्य, एक स्पेस छोड़ देते हैं जिसे निजी खिलाड़ी भर देते हैं।

समाजवादियों ने स्कूल खोले। कितने और किसने खोले। हम सिर्फ़ नकारात्मक सोच से आगे बढ़ना चाहते हैं क्या? आज भी विद्याभारती और एकल विद्यालय हैं, जहाँ सरकारी स्कूल नहीं पहुँचे, वहाँ यह चल रहे हैं। समाज से सहयोग लेकर और कम से कम शुल्क लेकर ये चल रहे हैं। कोई अतिवादी सोच से बात नहीं बनेगी। संतुलित तरीक़े से विचार करना होगा।

वर्मा कमेटी की बात है तो वर्मा कमेटी ने क़तई दो साल नहीं कहा। वर्मा कमेटी ने कोठारी कमीशन की सिफ़ारिश को आगे बढ़ाने की बात कही। उस कमेटी से दो साल के बीएड की बात नहीं की।

पू. ब. : वर्मा कमेटी ने की है दो साल की बात।

*(**अ. को. :** नहीं, दो साल की बात नहीं की है। उन्होंने समय मर्यादा बढ़ाने की बात की है।)* उन्होंने दो और पाँच साल की बात की है। दो साल ग्रेजुएशन के बाद, चार साल स्कूल के बाद। लेकिन यह क़तई नहीं कहा कि पूरे देश के लिए एक ही मॉडल होना चाहिए।

*(**अ. को. :** इसलिए चार साल का भी विषय आया है लेकिन वर्मा कमेटी ने दो साल नहीं कहा। कोठारी को आगे बढ़ाने की बात कही है।)* कोठारी ने तो चार और पाँच साल की बात की है।

*(**अ. को. :** वह इंटीग्रेटिट स्तर पर है। मेरा मानना है कि क्या इससे भी कुछ अलग हो सकता है क्या कुछ। विश्वविद्यालय के स्तर पर हम जो बात कर रहे हैं, वहाँ तो अनुभव नहीं चाहिए। आप नेट सेट पास करें और लग जाएँ क्लास में पढ़ाने। तो यह जो सारी व्यवस्था चल रही है, क्या उससे हट कर भी सोचा जा सकता है? या एक दायरे में फँस कर उसी के इर्द-गिर्द चलते रहेंगे तो व्यवस्था नहीं बदल सकती। क्या हम स्वतंत्र सोच सकते हैं? आज का यह विषय नहीं है, पर क्या इस पर विचार किया जा सकता है।)*

नीरज जैन : मेरे ख़्याल से वह अलग मुद्दा हुआ कि आज़ादी के समय जो संस्थाएँ खुलीं उनका किरदार क्या था। उनकी भी सीमाएँ रही होंगी, विद्वानों ने उस पर जो भी प्रश्न उठाए हों, उन्हें मैं नहीं जानता लेकिन उस दौर में वे काफ़ी कमाल के प्रयास थे। मेरी मूल मान्यता यह है कि एक आंदोलन चल रहा था, अंग्रेज़ ज़बरदस्त दमन कर रहे थे, आप उसमें कुछ समानांतर संस्थाएँ खड़ी कर रहे थे— तो कुछ सीमाएँ तो होंगी ही। हमें समझना यह चाहिए कि हम अपना एक विरोध दर्ज कर रहे थे, और हम अपने तरीक़े से कोशिश कर रहे थे कि बच्चे पढ़ें। मेरे ख़्याल से इस मसले को इसी तरह देखा जाना चाहिए। यहाँ अगर शिक्षा पर शुरू से उतना ध्यान दिया गया होता तो मेरे ख़्याल से जो स्कूल आरएसएस ने खोले हैं विद्या भारती आदि वे न होते। आज का विषय यह नहीं है, पर इन स्कूलों में जिस तरह की शिक्षा दी जाती है वह भी बहस का मुद्दा है।

*(**अ. को. :** आप अपनी बात कह लें फिर मैं जवाब देता हूँ।)* मुझे मेरी बात कहने दें। बीच में न टोकें। *(**अ को. :** मैं बीच में रोक नहीं रहा। आपको समर्थन दे रहा हूँ कि आप बोल लें फिर मैं जवाब देता हूँ।)* आप क्यों नहीं अनिवार्य कर देते कि सभी कॉमन स्कूल में जाएँ। मेरी सारी पढ़ाई सरकारी स्कूल में हुई है। अगर हम इस नीति को लागू करते हैं और पैसा देते हैं तो ख़ुद ब ख़ुद उसकी निगरानी की व्यवस्था बन जाएगी। जैसे आप कह रहे हैं समाज की निगरानी वाली बात— तो जब पूरे समाज के बच्चे वहाँ जाएँगे तो ख़ुद-ब-ख़ुद निगरानी बन जाएगी, क्योंकि हमारा बच्चा वहीं पढ़ रहा होगा।

सतीश देशपांडे : यह जो बात अतुलजी कह रहे हैं कि समाज की सहभागिता हो और समाज का अंकुश भी हो— तो इस सिलसिले में मैं दोबारा स्कूली शिक्षा और युनिवर्सिटी शिक्षा में फ़र्क़ करना चाहूँगा। सारी दुनिया में स्कूली शिक्षा में राज्य की रुचि रही है, क्योंकि यह नागरिक निर्माण का क्षेत्र माना जाता है।

मूल्यों का क्षेत्र माना जाता है और मूल्यों पर, ख़ासकर कम उम्र के बच्चे, जो ख़ुद अपना मन नहीं बना सकते किसी चीज़ पर, उन्हें मार्गदर्शन की ज़रूरत होती है। यह हमारे देश में ही नहीं सारे देशों में है। पर उच्च शिक्षा की जो भूमिका है वह अलग भूमिका है। उच्च शिक्षा की भूमिका ऐसी होनी चाहिए कि वह समाज से कुछ हद तक पृथक रहे। ताकि उस समय का जो भी दबंग तबक़ा है, प्रभुत्वशाली और वर्चस्वी वर्ग है— उसके ख़िलाफ़ विचार पनप सकें। और असहमति की इस अभिव्यक्ति के लिए ऐसी जगह बने जिसे सुरक्षित रखा जाए और उस पर एक सीमा भी हो। यानी कैंपस में ही यह बात हो सकती है, बाहर नहीं हो सकती। ऐसा करना भी ज़रूरी है क्योंकि इतिहास में ऐसे बहुत सारे उदाहरण हैं। विचारधारा चाहे जो भी हो। साम्यवाद में हमने देख लिया कि स्कूली शिक्षा और उच्च शिक्षा में समीक्षा की कोई जगह नहीं थी। और दूसरी जगह भी देख लिया क्या होता है।

यह केवल साम्यवाद और पूँजीवाद की बात नहीं है और कई सारी विचारधाराएँ हैं। तो मेरा मानना यह है कि उच्च शिक्षा में थोड़ी जगह मिलनी चाहिए, जो समाज से कुछ अलग भी हो और उससे जुड़ी भी हो, ताकि वहाँ हर क़िस्म के विचार की काट हो सकती हो। समीक्षा कैसी होगी, इस पर विचार होना ज़रूरी है। और इसके लिए ज़रूरी है कि एक ख़ास क़िस्म प्रकार की स्वायत्त जगह हो। और बाक़ी समाज में आत्मविश्वास होना चाहिए कि अगर इस विश्वविद्यालय में फलाँ क़िस्म की बात हो रही है तो उससे हमारा समाज हिल नहीं जाएगा। तो जब तक इस तरह का आत्मविश्वास समाज में नहीं जगता और जब तक यह गुंजाइश विश्वविद्यालय को नहीं दी जाती, जहाँ समीक्षात्मक सोच नहीं पनप सके। दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में हमारी शिक्षा प्रणाली को घाटा होगा यदि हम उच्च शिक्षा को भी स्कूली शिक्षा की भाँति चलाने की कोशिश करेंगे। मेरा बस यही कहना था।

कंचन शर्मा : जैसा आप कह रहे हैं कि उच्च शिक्षा को स्वायत्तता दी जाए— पर मीडिया और इंटरनेट की बढ़ती भूमिका को इस संबंध में कैसे देखा जाएगा? भले हम उन्हें अलग रखें कि आप यहाँ पर रहिए और कुछ नवाचार करें, समीक्षा करें, और समाज में यह विश्वास रखें कि वह हिलने वाला नहीं है। इस दौर में यह कितना सम्भव है, जब मीडिया का असर आपके आसपास हर स्थान पर है। तो ऐसी स्थिति में इन दोनों को अलग रखना कितना सम्भव है कि एक-दूसरे पर असर न पड़े। इन दोनों के लिए हम कैसे राह निकाल सकते हैं?

स्वायत्तता का प्रश्न

सतीश देशपांडे : हम आज एक अलग तरह के संसार में हैं। मीडिया आज बहुत हावी और सर्वव्याप्त भी है। मुझे लगता है आप यह सोच रहे हैं कि मीडिया एक माध्यम है जो किसी चीज़ को फैला देता है, रिपोर्ट कर देता है, जिसकी वजह से बाद में प्रतिक्रियाएँ होती हैं। आज का मीडिया औसतन ऐसा नहीं है। आज के मीडिया में जो आता है वह पहले से निर्धारित होता है। पहले से कोई कार्यक्रम बना होता है, किसी प्रकार की मंशा होती है। उसके बाद वह चीज़ मीडिया में आती है। उस मंशा को बढ़ाने के लिए, उस कार्यक्रम को बढ़ाने के लिए। तो मुझे नहीं लगता कि मीडिया किसी चीज़ का स्रोत है और मीडिया में किसी चीज़ के छप जाने से कोई फ़र्क़ पड़ता है। अगर छप भी जाए तो हम उसका विरोध कर सकते हैं। उसके बारे में बात कर सकते हैं, लेकिन मीडिया में वह इसलिए उछाला जाता है क्योंकि पहले से तैयारी होती है। और यह हर पार्टी और विचारधारा के लोग करते हैं। जहाँ तक उनसे बन पाता है इसका लाभ उठाते हैं। तो मुझे नहीं लगता मीडिया अपने आप में स्थूल चीज़ है। आपने देखा होगा कि पिछले तीन-चार सालों में यह कई बार सिद्ध हो चुका है कि मीडिया में जो दिखाया गया वह ग़लत था झूठ था। मुझे लगता है मीडिया की तरफ़ ध्यान नहीं देना चाहिए। आप जो ठीक समझते हो वह करो, मीडिया में आये तो आये।

अतुल कोठारी : मैं कहना चाहता हूँ कि स्वायत्तता का दायरा बहुत विशाल है। पर स्वायत्तता का वातावरण कैसे बनेगा। हमारे यहाँ स्वायत्तता की एक ही स्तर पर बात हो रही है। एक संगोष्ठी में मैं गया था।

कोठारी कमीशन और राधाकृष्णन कमीशन जिस स्वायत्तता की बात करते हैं, वह फ़ाइनेंस से जुड़ी हुई नहीं थी, बल्कि संस्थाओं के भीतर देश के प्रति लगाव कैसे विकसित किया जाए, यह बात उन्होंने अच्छे से रखी थी। संस्थाएँ ऐसी हों कि सारे देश की समस्याओं को समग्र रूप से रखा जाए, चिंतन किया जाए। छात्रों-अध्यापकों तक को अपने विचार रखने तक का अधिकार हो। ... पैसे नहीं दे रहे तो स्वायत्तता दे दो ताकि हम अपने सेल्फ़ फ़ाइनेंस कोर्स चला सकें, मनमानी फ़ीस वसूल सकें।

दिन भर चलने के बाद लोग बैठे थे। वहाँ बात चल रही थी कि हमारी प्राचीन व्यवस्था स्वायत्त थी और आज सरकार स्वायत्तता नहीं दे रही है। सब वक्ताओं ने अलग-अलग शब्दों का सहारा लेते हुए यही बात कही। तो मैंने कहा कि वाइस चांसलर सोचता है मेरी स्वायत्तता होनी चाहिए, पर नीचे वालों की स्वायत्तता का क्या? अभिभावक क्या अपने बच्चों को स्वायत्तता दे रहे हैं? उन्हें क्या पढ़ना है क्या नहीं? अध्यापक अपने बच्चों को स्वायत्तता दे रहे हैं क्या? क्या एक प्रिंसिपल अपने अध्यापकों को स्वायत्तता दे रहा है? तो जब तक समग्रता से प्रयास न किया जाए तो स्वायत्तता का दुरुपयोग ही होगा। जहाँ स्वायत्तता दी गयी है क्या वहाँ स्वायत्तता के नाम पर परीक्षा व्यवस्था में बदलाव हुआ, कोई नवाचार हुआ, कोई नया अकादमिक बदलाव हुआ। नहीं हुआ। बस फ़ीस बढ़ाने के लिए स्वायत्तता चाहिए। स्वायत्तता एक तरह की विचारधारा को थोपने के लिए चाहिए।

कोठारी कमीशन, राधाकृष्णन कमीशन ने स्वायत्तता की बात पर विचार किया। राधाकृष्णन ने कहा कि छात्रों और शिक्षकों को भी स्वायत्तता होनी चाहिए। इसलिए स्वायत्तता का माहौल तैयार करना होगा, उसके मॉडल तैयार करने होंगे कि तय हो सके कि स्वायत्तता किसको कहते हैं। इस मुद्दे पर एक प्रिंसिपल से मेरी मुलाक़ात हुई। वे युनिवर्सिटी में चुनाव नहीं कराना चाहते थे। मजबूरी में कराना पड़ता है उन्हें। पर वे अपने स्कूल में चुनाव करवाते हैं। 26 मंत्री और एक प्रधानमंत्री। चुनाव कराने की कमेटी में भी छात्र होते हैं। और सारे स्कूल का संचालन छात्र करते हैं। छात्र अकादमिक कमेटी में भी हैं। वहाँ हर शनिवार नौ से ग्यारह शिक्षकों की बैठक होती है लेकिन विद्यालय चलता रहता है। विद्यार्थी स्कूल चलाते हैं। उन सज्जन के पास अकादमिक काम भी होंगे, सरकारी काम भी होंगे, समय बेहद कम रहता है। महीने में वे 15 दिन विद्यालय से बाहर रहते हैं। पर वे कहते हैं कि विद्यालय आराम से चलता है, कोई समस्या नहीं होती। ऐसे स्वायत्तता के मॉडल जब तक तैयार नहीं होंगे तब तक उसका दुरुपयोग ही होगा। आज जितने विश्वविद्यालयों को स्वायत्तता है क्या वहाँ नया कुछ करने का प्रयास हो रहा है? बीस-तीस सालों से वही पाठ्यक्रम चल रहे हैं। स्वायत्तता का उपयोग क्या होगा, यह भी विचार करना होगा।

पूनम बत्रा : सिर्फ़ एक बात कहना चाहूँगी कि स्वायत्तता एक ऐसी चीज़ है कि उसका कोई एक फ़ार्मूला नहीं है। स्वायत्तता के मैकेनिज़्म हर संस्था में बनने होंगे और बनते भी होंगे। मुझे लगता है युनिवर्सिटी अपने आप में स्वायत्त संस्था है। आज जब हम कहते हैं कि युनिवर्सिटी को स्वायत्तता दे दी तो मुझे समझ नहीं आता कि किस बात की स्वायत्तता। जिस स्वायत्तता की बात आप कर रहे हैं वो सांस्कृतिक स्वायत्तता है कि प्योर लर्निंग प्योर एक्स्चेंज हो। वह मैकेनिज़्म एक युनिवर्सिटी के अंदर बनेगा। संस्था को उसे बार-बार पैना बनाना है। यह कोई फ़िनिश्ड प्रोडक्ट नहीं है और हो भी नहीं सकता। आज की तारीख़ में कई युनिवर्सिटियों में से सारे मैकेनिज़्म ग़ायब है। यह एक बहुत बड़ी समस्या है। हमें यह देखना होगा कि हम स्वायत्तता की प्रक्रिया को कैसे मज़बूत कर सकते हैं क्योंकि उसमें भी कुछ पैमाने हैं।

नीरज जैन : आज स्वायत्तता का मतलब वित्तीय स्वायत्तता हो गया है, मतलब संस्था अपने ख़र्चे ख़ुद चलाएगी। कोठारी कमीशन और राधाकृष्णन कमीशन जिस स्वायत्तता की बात करते हैं, वह फ़ाइनेंस से जुड़ी

हुई नहीं थी, बल्कि संस्थाओं के भीतर देश के प्रति लगाव कैसे विकसित किया जाए, यह बात उन्होंने अच्छे से रखी थी। संस्थाएँ ऐसी हों कि सारे देश की समस्याओं को समग्र रूप से रखा जाए, चिंतन किया जाए। छात्रों-अध्यापकों तक को अपने विचार रखने का अधिकार हो। आज वह बहस नहीं है। आज स्वायत्तता का एक ही मतलब हो गया है कि पैसे नहीं दे रहे तो स्वायत्तता दे दो ताकि हम अपने सेल्फ़ फ़ाइनेंस कोर्स चला सकें, मनमानी फ़ीस वसूल सकें।

कंचन शर्मा : इस पूरी चर्चा से ये बात साफ़ निकल कर आ रही है कि निजीकरण को भी परिभाषित किया जाना बेहद ज़रूरी है। इसी के साथ जुड़ा हुआ मसला गुणवत्ता का है तो उस गुणवत्ता को भी समझ कर पुनः परिभाषित करना होगा। तीसरा, जैसा सतेंद्र जी कह रहे हैं कि निगरानी ही ठीक नहीं हो पा रही है। इसमें जो वैधता देने वाली संस्थाएँ हैं चाहे वो एनसीटीई हो या राज्य सरकार की उसमें भूमिका हो, वे भी बेमानी हो गयी हैं। निगरानी उस स्तर पर ठीक नहीं है जिसकी वजह से निजी संस्थाएँ और कई बार सरकारी अनुदान प्राप्त संस्थाएँ भी अपनी भूमिका ठीक से नहीं निभा पातीं।

II

ज्ञान-रचना और शिक्षा का माध्यम

दूसरा प्रश्न : मेरा दूसरा प्रश्न शिक्षा के क्षेत्र में ज्ञान-रचना की प्रक्रिया और शिक्षा के माध्यम से संबंधित है। माध्यम के लिहाज़ से पूरा देश दोहरी शिक्षा-प्रणाली में फँसा हुआ है। एक तरफ़ अंग्रेज़ी माध्यम की शिक्षा है, और दूसरी तरफ़ भारतीय भाषाओं में शिक्षा है। प्रत्येक स्तर पर दोनों ही चल रहे हैं। ग़ौर करने लायक़ है कि पिछले तीन दशक में बहुत बड़े पैमाने पर कमज़ोर जातियों के छात्र-छात्राएँ ग्रामीण और अर्धशहरी पृष्ठभूमि से शिक्षा के दायरे में आये हैं। इनके पास अंग्रेज़ी में पढ़ने लायक़ सांस्कृतिक पूँजी नहीं है, इसलिए अंग्रेज़ी के छात्रों के मुक़ाबले इन्हें समान धरातल नहीं मिल पाता है। इस संबंध में शिक्षा-नीति के पास क्या प्रस्ताव होना चाहिए? क्या यह केवल व्यावहारिक स्थितियों का ही तकाज़ा है? क्या हमें सैद्धांतिक दृष्टि से अंग्रेज़ी माध्यम का विरोध करने या उसे उत्तरोत्तर सीमित करते चले जाने की योजना पर अमल नहीं करना चाहिए? क्या शिक्षा-नीति को भारतीय भाषाओं में ज्ञान-रचना को प्रोत्साहन देने की तरफ़ झुका हुआ नहीं होना चाहिए? इसी के साथ जुड़ी है इंटरनेट की भूमिका। इसने सूचना और ज्ञान-रचना के दायरे को पूरी तरह बदल दिया है। व्यावहारिक व सैद्धांतिक दोनों स्तरों पर हमें इस समस्या को कैसे सम्बोधित करना चाहिए?

सतीश देशपांडे : बहुत अहम सवाल है यह। लेकिन, इसके बारे में भी व्यावहारिक तौर पर और ठण्डे दिमाग़ से सोचना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि इसे ले कर के अकसर बहुत सारी रूमानी बातें हुआ करती हैं। एक बात तो यह है जिसकी बार-बार दुहाई दी जाती है कि ज्ञान देशज होना चाहिए। ज्ञान-रचना की जो भी प्रक्रिया हो, उसका एक स्वदेशी स्वरूप भी होना चाहिए। ऐसी माँग का आना बहुत ही स्वाभाविक है, लेकिन इसके निहितार्थों को समझने की ज़रूरत है। ज्ञान-विज्ञान के जगत की व्यावहारिकताओं को ध्यान में रखते हुए समझने की ज़रूरत है। कम से कम मेरा मानना है कि आज के समय में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के जगत में बहुत कम ऐसे संस्थान हैं जो वाक़ई नये ज्ञान की रचना में सक्रिय हैं। दरअसल, इसके लिए जितना पैसा लगता है, जितनी लागत लगती है, जितनी पीढ़ियों को इसमें ख़ुद को ख़र्च होना पड़ता है, उसे देखते हुए सारी दुनिया में बहुत कम संस्थान ऐसे हैं जो नये ज्ञान का सृजन में सक्रिय हैं या सोच सकते हैं कि वे नये ज्ञान के सृजन में योगदान देंगे। लेकिन सब कुछ ऐसा ही नहीं है। ज्ञान के सभी क्षेत्रों के बारे में ऐसी स्थिति नहीं है। जैसे समाज-विज्ञान, कला की जो विधाएँ हैं, वहाँ बात अलग है। वहाँ बहुत कुछ ऐसी सम्भावनाएँ बनती हैं, जहाँ ज्ञान-रचना की प्रक्रिया को अलग तरह से देखा जा सकता और हम देशज ज्ञान की कोशिश कर सकते हैं।

बहुत बड़े पैमाने पर कमज़ोर जातियों के छात्र-छात्राएँ ग्रामीण और अर्धशहरी पृष्ठभूमि से शिक्षा के दायरे में आये हैं। ... अंग्रेज़ी के छात्रों के मुक़ाबले इन्हें समान धरातल नहीं मिल पाता है। इस संबंध में शिक्षा-नीति के पास क्या प्रस्ताव होना चाहिए? क्या यह केवल व्यावहारिक स्थितियों का ही तकाज़ा है? क्या हमें सैद्धांतिक दृष्टि से अंग्रेज़ी माध्यम का विरोध करने या उसे उत्तरोत्तर सीमित करते चले जाने की योजना पर अमल नहीं करना चाहिए?

यहाँ हमारे लिए सबसे बड़ा सवाल या समस्या भाषा की समस्या है। इसे लेकर भी हमने बहुत पहले ही चूक कर दी है। इसे सुधारने में अब बहुत लागत लगेगी। हमने अपनी भाषाओं को निष्क्रिय कर दिया है। ऐसा नहीं है कि हमारी भाषाएँ हैं नहीं, वे हैं, वे जीवित हैं। ख़ासकर समाज-विज्ञान और कला के क्षेत्र में भी। कला के क्षेत्र की यह विशेषता है कि कला की अपनी भाषा है और उसका एक बहुत समृद्ध इतिहास हमारे पास है। यहाँ कुछ बचा हुआ है अभी भी। क्योंकि इसकी भाषा भी हमारे पास है और इसके प्रत्यय और सिद्धांत भी हमारे पास हैं। जैसे हमारे *नाट्यशास्त्र* को लीजिए। इसे ले कर के हमारे पास क्लासिकी है, परम्परा है, उसकी पूरी शब्दावली है बाक़ी सब कलाओं को भी आप देख सकते हैं कि उनके लिए हमारे पास माद्दा है।

दरअसल, जहाँ विज्ञान का जगत एक हद तक संदर्भ-निरपेक्ष है, इसलिए भाषा निरपेक्ष भी है। वहीं कला के क्षेत्र की ख़ासियत है कि उसकी अपनी भाषा होती है। विज्ञान में हम भारतीय भाषाओं में बोलते हुए, पढ़ाते हुए और तकनीकी शब्दों को मूल अंग्रेज़ी में प्रयोग करते हुए काम चला सकते हैं। बल्कि ऐसे ही काम चलाया जा रहा है। सारे भारत में कहने को अंग्रेज़ी माध्यम है पर ज़्यादातर जो तकनीकी संस्थान हैं वहाँ पढ़ाई भारतीय भाषाओं में होती है। तकनीकी शब्दों को हूबहू अंग्रेज़ी में रखा जाता है।

इसके विपरीत समाज-विज्ञान का कोई विस्तृत या लम्बा इतिहास हमारे पास नहीं है। इसे ले कर सबसे ज़्यादा दिक़्क़त यही है। समाज-विज्ञान इन दोनों के बीच पड़ जाता है और इसकी समस्याएँ अलग हैं। यहाँ इन विशिष्ट समस्याओं के बारे में ध्यान देना हमारे लिए ज़रूरी है। जिसकी तरफ़ आज विशिष्ट ध्यान नहीं दिया गया है। यहाँ हमारी समस्या यह है कि एक तो हमारी कोई समृद्ध परम्परा इस प्रकार की नहीं रही है और दूसरा इसे विकसित कर पाने की कोई प्रक्रिया नहीं दिखती है। सबसे बड़ी दिक़्क़त यह है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली सक्रियता को, सकारात्मकता को बढ़ावा नहीं देती। हमारी शिक्षा-प्रणाली परीक्षा की ओर ज़्यादा ध्यान देती है। तो विद्यार्थी हमारे यहाँ परीक्षा में ज़्यादा से ज़्यादा नम्बर लाने के लिए पढ़ते हैं। दरअसल, जब तक भारतीय भाषाओं में सवाल नहीं किये जाएँगे तब तक समाज-विज्ञान पनपेगा नहीं। अनुवाद बहुत ज़रूरी है, लेकिन केवल अनुवाद से काम नहीं चल सकता। जब तक आप अपनी मूल भाषा में सवाल नहीं करेंगे तब तक बहुत कुछ नहीं हो सकता। जो कुछ भी होगा वह एक तरह से नक़ल का समाज-विज्ञान होगा। इसके लिए चाहिए कि छात्रों में भाषा के प्रति एक प्रकार का रवैया पनपाया जाए, जो हमारे यहाँ पूरी तरह से नदारद है। कोशिश ही नहीं है।

भाषा एक इस्तेमाल की चीज़ है, जिससे आप कुछ करते हैं। यह पूजा की चीज़ नहीं है। हमारे यहाँ क्या होता है कि यदि आप किसी लेखक को बड़ा मानते हैं तो उसे महान क़रार देने के लिए आप उनके जो कुछ भी विचार हैं, उन्हें रट कर उसे दुहरा देंगे। यह बहुत बड़ी चीज़ मानी जाती है। यह उनका आदर करना माना जाता है। लेकिन हमें चाहिए कि हर एक को हम प्रेरित करें। ख़ासकर समाज-विज्ञान के क्षेत्र में कि वे अपने इर्द-गिर्द जो देखता या देखती हैं, उससे जो स्वाभाविक सवाल पैदा होते हैं, उन्हें आकार दे पाए। क्योंकि यह अपने आप नहीं होता। यह प्रक्रिया अपने आप नहीं होती। इसके लिए बहुत मेहनत करनी पड़ती है। इसके लिए प्रशिक्षण की ज़रूरत होती है, जिसका हमारे यहाँ अभाव है। तो ज्ञान-रचना और भाषा का सवाल बिल्कुल गुत्थम-गुत्था है। इसके बारे में जब तक नयी सोच नहीं बनती, नये सिरे से इसके बारे में हम नहीं सोचते जो बहुत भयंकर संकट है। हमारे सामने यह और गहराता जाएगा।

हमारे यहाँ जो बड़ी चीज़ हो रही है, जिसका लोग ज़िक्र भी करते हैं कि हमारे यहाँ छात्र किसी भी

भाषा में सृजनात्मक काम करने लायक़ नहीं रह जाते। वे न अंग्रेज़ी के होते हैं, न अपनी भाषा के होते हैं। इस तरह का जो अधकचरा ज्ञान है, अधकचरी और अजीब शिक्षा है, वह लोगों को सबलीकरण के बजाय निर्बल, असहाय और एक तरह से बहुत दयनीय दशा में ला कर खड़ा कर देती है। जिससे वे नये सिरे से नहीं सोच पाते। इसलिए जो कुछ भी होता है वह अंग्रेज़ी में होता है।

चूँकि यह बहुत दिनों से चल रहा है, इसलिए इसे लेकर बहुत सारी खुशफ़हमियाँ भारतीय भाषाओं के जगत में भी आ जाती हैं। कुछ लोगों को लगता है कि उनके साथ पक्षपात सिर्फ़ इसलिए हो रहा है कि वे भारतीय भाषाओं को बोल रहे हैं। तो जब हम उनकी भाषाओं में भी उतरते हैं, तो पाते हैं कि वहाँ वह सक्रियता ही नहीं है। लोग यह भूल जाते हैं कि बकवास हर भाषा में की जा सकती है। भाषा से यह सिद्ध नहीं होता, या भाषा से यह गारंटी नहीं मिलती कि इस भाषा में काम करेंगे तो अच्छा ही करेंगे। इसके लिए हमें चाहिए कि ऐसा वैचारिक जगत हो जहाँ आदान-प्रदान हो। जहाँ कुछ लड़ाई-झगड़े हों, तीखे विवाद हों, समीक्षा का माहौल बने। इस माहौल में जो कुछ सिद्धांत बने, उन्हें पहले देख ले, उनमें दम हो। ऐसा हमारी भारतीय भाषाओं में क़तई नहीं हो रहा है। लम्बे समय से। यह हमारे लिए एक बड़ी समस्या है।

*(**कं. श. :** एक अवलोकन ज्ञान और भाषा के बारे में यह है कि जब आप किसी भाषा में ज्ञान की रचना करते हैं, उसकी स्थापित सीमाओं के बावजूद, तो भाषा बदलने के कारण उसमें सम्भावना रहती है कि उसकी ज्ञानमीमांसा भी बदल जाए। यह चीज़ हमें अनुवाद से मौलिक लेखन की तरफ़ ले जाती है। इस संदर्भ में आप क्या कहते हैं?)* ज़रूर, समाज-विज्ञान के बारे में एक बात यह है कि वह स्वाभाविक रूप से संदर्भ सापेक्ष है। आपके आस-पास जो है, वही समाज है। गुरुत्वाकर्षण के जो नियम हैं, वे देश-काल के साथ नहीं बदलते। अमेरिका में भी वही नियम है, यहाँ भी वही नियम होंगे। लेकिन, अपने परिवेश की ओर ध्यान दिये बिना समाज-विज्ञान नाम की कोई चीज़ ही नहीं हो सकती। अगर ऐसा है तो परिवेश का मूल तत्त्व है भाषा, क्योंकि समाज तो भाषा में विचरता है, भाषा में जीवित होता है। यह एक अजीब विडम्बना है हमारे समाज-विज्ञान में। जिसे फ़ील्डवर्क कहा जाता है, वह सारा स्थानीय भाषा में ही हो सकता है। अंग्रेज़ी में आप फ़ील्डवर्क बहुत कम विषयों पर कर पाएँगे। यह एक मामूली बात है, एक आम बात है कि हर कोई फ़ील्डवर्क करता है और भारतीय भाषाओं में करता है। लेकिन उसे जब तक आप वापिस अंग्रेज़ी में नहीं लाते और भारतीय भाषाओं के दो-चार शब्दों को सजा-सँवार कर 'इटेलिक्स' में डालकर अंग्रेज़ी में नहीं लाते, तब तक आपके फ़ील्डवर्क की वैधता या उसके असली होने का प्रमाण नहीं मिलता।

लेकिन क्लिफ़र्ड गीर्ट्ज़ की एक अवधारणा है। उन्होंने एक बात कही थी प्रत्ययों के बारे में। उन्होंने कहा था कुछ प्रत्यय अनुभव-समीप होते हैं, और कुछ प्रत्यय अनुभव-सुदूर होते हैं। समाज-विज्ञान के प्रत्ययों का अनुभव-समीप होना स्वाभाविक रूप से आवश्यक है। लेकिन हमारे यहाँ अजीब सी विडम्बना है कि हमारे यहाँ अनुभव-समीप होने के लिए भारतीय भाषाओं में जाना पड़ता है और समाज-विज्ञान के जगत में नाम कमाने के लिए उनसे दूर भागना पड़ता है। इससे हमारा समाज पूरी तरह से कुण्ठित हो गया है। यानी भारतीय भाषाओं में समाज-विज्ञान का हो पाना मुश्किल है। इसीलिए हर जगह साहित्य का बोलबाला है।

आपको किसी भी भारतीय भाषा में किसी के द्वारा या किसी भी विषय पर कोई स्टेटमेंट या वक्तव्य हेतु साहित्यिकों की सहायता लेनी होगी। जब तक कोई कवि कोई वक्तव्य नहीं देता, तब तक उसकी कोई मान्यता नहीं है। समाज-वैज्ञानिकों की कोई पूछ ही नहीं है। वे हैं ही नहीं। यह अभाव के कारण होता है। कोई है ही नहीं तो साहित्यिक ही बोलेंगे, क्योंकि भाषा के साथ उन्हीं का नाम जुड़ा हुआ है। यह एक तरह का अजीब सा दुष्चक्र है कि आज की स्थिति ऐसी है। इसकी वजह से आज का व्यावसायिक विज्ञान का जो व्यवसाय है, वह भारतीय भाषाओं में कम करने के लिए किसी को प्रोत्साहन ही नहीं देता। बल्कि अगर व्यक्ति ऐसा करने के इच्छुक है भी तो आपको उसकी क़ीमत चुकानी पड़ती है। पहले तो वह काम करने के क़ाबिल ही नहीं होता क्योंकि भारतीय भाषाओं में काम करने का प्रशिक्षण उसे मिलेगा ही कहाँ से! इसकी वजह से कला के जगत को एक तरफ़ और प्राकृतिक विज्ञान के जगत को एक तरफ़, दोनों में सम्भावनाएँ दिखती हैं— परंतु भाषाओं को ले कर के समाज-विज्ञान में घोर अंधकार है।

मेरी इस बात को निराशावादी ज़रूर कहा जा सकता है लेकिन आज का यथार्थ यही कह रहा है। यहाँ आवश्यकता यह है कि भारतीय भाषाओं में समाज-विज्ञान की माँग आनी चाहिए। इस तरह के समाज-विज्ञान की क्या खपत हो सकती है, क्या इसकी माँग है? इस प्रकार के सवाल प्राय: उठाए जाते हैं। बार-बार यही
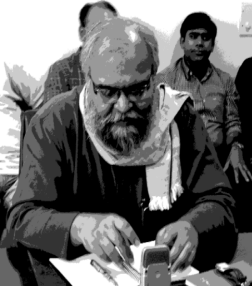
अजीब सी विडम्बना है कि हमारे यहाँ अनुभव-समीप होने के लिए भारतीय भाषाओं में जाना पड़ता है और समाज-विज्ञान के जगत में नाम कमाने के लिए उनसे दूर भागना पड़ता है। इससे हमारा समाज पूरी तरह से कुण्ठित हो गया है। यानी भारतीय भाषाओं में समाज-विज्ञान का हो पाना मुश्किल है। इसीलिए हर जगह साहित्य का बोलबाला है।

सवाल उठाया जाता है कि अंग्रेज़ी में तो सब उपलब्ध है और अनुवाद का सुगम रास्ता बना ही रहता है। इसलिए जब तक हमें मजबूर न किया जाए, जब तक सारी समाज-विज्ञान की व्यवस्था नहीं बदलने वाली। जब तक मजबूरीवश भारतीय भाषाओं में भी काम करना होगा, तब तक मुझे कुछ बदलता नहीं दिखता। और, इस तरह का दबाव कौन पैदा करेगा? यह भी साफ़ नहीं है। इसकी वजह से थोड़ा निराशावादी होना स्वाभाविक है।

अतुल कोठारी : ज्ञान के सृजन की जो बात है उसमें दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं। एक है पाठ्यक्रम का निर्माण। अभी हमारा पाठ्यक्रम सैद्धांतिक है। इसमें व्यावहारिक ज्ञान की कोई बात नहीं है, या बेहद कम है; जहाँ प्रेक्टिकल होते हैं। प्रत्यक्ष रूप से फ़ील्ड में जा कर काम करने का जो अनुभव है वह हमारी शिक्षा-व्यवस्था में नहीं है। इसलिए बच्चे रटी-रटाई पद्धति से परीक्षा पास कर लेते हैं। अच्छे नम्बर ले आते हैं। लेकिन कुछ नया सृजन करने की दृष्टि उनमें विकसित नहीं हो पाती। पाठ्य-क्रम के साथ-साथ पढ़ाने की पद्धति भी बड़ा कारण है। अंग्रेज़ जो पद्धति दे गये कि सिद्धांत पढ़ाओ और बच्चों को आगे बढ़ाओ। पढ़ाने की पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि बच्चों को आनंद भी प्राप्त हो और व्यावहारिक ज्ञान भी मिले। जैसे कि ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने लिखा है कि उनको खगोल विज्ञान के शिक्षक पढ़ा रहे थे, छात्रों से दो-तीन बार पूछा— समझ में आया क्या? बच्चों ने कोई सकारात्मक जवाब नहीं दिया, तो शिक्षक बोले कि शाम को साढ़े पाँच बजे समुद्र के किनारे सब आ जाना। सारे बच्चे समुद्र के किनारे आ गये। वहाँ जा कर उड़ रहे पक्षियों को दिखा कर समझाया तो सारे बच्चों ने एक साथ कहा कि समझ में आ गया। तो यह जो पढ़ाने की भिन्न प्रकार की कलाएँ हैं वे भी आज हमारी व्यवस्था में नहीं हैं। पाठ्यक्रम एक से ही सालों-साल तक चलते रहते हैं। कोई नयापन उनमें नहीं आता है। हमारा पाठ्यक्रम बीस-तीस वर्षों से वहीं-का-वहीं चल रहा है। हमारी समस्या यह है कि हम नये पाठ्यक्रम का सृजन नहीं कर पा रहे हैं।

दूसरा, इसमें भाषा का बड़ा प्रश्न है। जब तक बच्चा अपनी भाषा में पढ़ेगा नहीं, तब तक उसका वास्तविक विकास नहीं हो सकता। पूरी दुनिया की यही दृष्टि है। दुनिया भर में जितने भी अनुसंधान हुए हैं, सभी का एक निष्कर्ष है कि शिक्षा तो मातृभाषा में होनी चाहिए।

आज अगर हम एशिया पर दृष्टि डालते हैं तो एक हज़ार जो बड़े उद्योग हैं उनमें चीन, जापान और कोरिया के लगभग सात सौ पचास उद्योग हैं। इन तीनों देशों में प्राथमिक से लेकर इंजीनियरिंग, मेडिकल और प्रबंधन आदि सभी प्रकार की पढ़ाई वहाँ की अपनी भाषा में है। इज़राइल छोटा-सा देश है। हमारे बाद स्वतंत्र हुआ। उनका न देश था, न भाषा थी। लेकिन वहाँ सत्रह लोगों को नोबेल पुरस्कार मिला है। सत्रह के सत्रह लोगों ने अपनी हिब्रू भाषा में काम किया है। किसी विदेशी भाषा में आप जानकारी तो प्राप्त कर सकते हैं पर ज्ञान का सृजन नहीं किया जा सकता। इस तरह से मातृभाषा में शिक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज हमारी शिक्षा के सामने सबसे बड़ी यही चुनौती है। आज हम उल्टी दिशा में जा रहे हैं।

*(**कं. श. :** इसमें आपका सुझाव क्या यह बताता है कि सरकार राजनीतिक इच्छा शक्ति से एक मज़बूत क़दम उठाए और अंतिम बार कहे कि अंग्रेज़ी शिक्षा का माध्यम नहीं रहेगी। ज़्यादा से ज़्यादा छह माह या एक साल का समय लिया जा सकता है। एक समयबद्ध कार्यक्रम लिया जा सकता है कि जो कुछ भी कोर्स, या पाठ्यक्रम लिखना है वह सब आप अपनी भारतीय भाषाओं में कर लीजिए। इसके बाद अंग्रेज़ी नहीं रहेगी। क्या इस प्रकार का कार्यक्रम प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक लेना चाहिए?)* अगर स्वतंत्रता के तुरंत बाद

हमने नयी शिक्षा नीति हेतु सुझाव में यह माँग की है कि आप इस संदर्भ में क्रमवार आगे बढ़िए। जैसे हिंदी भाषा क्षेत्र में 15 आईआईटी हैं, तो एक आईआईटी हिंदी माध्यम में कीजिए। बीस एनआईटी हैं तो एक हिंदी माध्यम में करें। बीस इंजीनियरिंग कॉलेज केरल में हैं तो केरल सरकार एक को मलयालम माध्यम दे। ऐसे क्रमबद्ध तरीक़े से परिवर्तन हो सकता है।

हम यह निर्णय करते तो हो जाता, लेकिन अब बहुत कठिन व जटिल मामला हो गया है। आज जनमानस भी उसी प्रकार का हो गया है। दूसरा, हमारा प्रशासन, हमारी न्यायपालिका भी इसमें भूमिका निभा रही है। आप देखिए, कर्नाटक सरकार ने घोषणा की कि उसी निजी संस्थान को अनुदान दिया जाएगा जो वहाँ की मातृभाषा में पढ़ाते होंगे। कुछ संस्थाएँ आरम्भ में उस प्रकार शुरू हुई थीं, परंतु बाद में उन्होंने अंग्रेज़ी को माध्यम बना लिया, तो सरकार ने अनुदान देने से मना कर दिया। इसके बाद मामला कोर्ट में चला गया। ज़िला न्यायालय में निजी संस्थान हार गये, उच्च न्यायालय में भी केस हार गये। फिर वे सर्वोच्च न्यायालय गये और सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय आया कि मातृभाषा कौन सी हो, यह अभिभावकों पर छोड़ दिया जाए, सरकार इसमें हस्तक्षेप न करे। यह पाँच न्यायमूर्तियों की पीठ का ऐसा निर्णय है जिसकी समीक्षा हेतु यदि याचिका दायर करनी है तो अब संविधान पीठ के समक्ष जाना होगा।

दूसरा, इतने सालों बाद समाज का वातावरण बदल गया है और समाज का मानस एक दिन में नहीं बनता। उनका भी अनुभव है कि स्वतंत्र भारत में अंग्रेज़ी को ऊपर रखा और अपनी भाषा को नीचे रखा। आप कॉमर्स-आर्ट तक अपनी भाषा में पढ़ सकते हैं पर आईआईटी, आईआईएम, मेडिकल में जाना है तो अपनी भाषा में नहीं पढ़ सकते। आप ज़िला न्यायालय तक अपनी भाषा में बहस कर सकते हैं, पर हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में अंग्रेज़ी चलेगी। प्रतियोगी परीक्षाएँ जो संघ लोक सेवा आयोग द्वारा ली जाती हैं। उसमें आईएस, आईपीएस की परीक्षा सारी भाषाओं में ली जा रही है परंतु उसी संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित इंजीनियरिंग, इकॉनॉमिक्स, पर्यावरण आदि की परीक्षाएँ अंग्रेज़ी में अभी भी चल रही हैं। जो परीक्षा सारी भारतीय भाषाओं में है, उसमें भी एक प्रश्न-पत्र अंग्रेज़ी का अनिवार्य है। अधिकतर प्रतियोगी परीक्षाओं में एक प्रश्न-पत्र या तो अंग्रेज़ी का अनिवार्य है या अंग्रेज़ी माध्यम में है। ऐसे में लोगों की मजबूरी हो गयी। इससे मानस यह बन गया कि जो अंग्रेज़ी जानते हैं वही विद्वान है, वही बड़ा आदमी है। कौन नीचे जाना चाहेगा। इस हेतु पहले तीन स्तरों पर बदलाव लाना आरम्भ करना चाहिए। उच्च एवं व्यावसायिक शिक्षा, प्रतियोगी परीक्षाएँ एवं न्यायालय सहित सारा कार्य अपनी भाषा में होना चाहिए।

हमने नयी शिक्षा नीति हेतु सुझाव में यह माँग की है कि आप इस संदर्भ में क्रमवार आगे बढ़िए। जैसे हिंदी भाषा क्षेत्र में 15 आईआईटी हैं, तो एक आईआईटी हिंदी माध्यम में कीजिए। बीस एनआईटी हैं तो एक हिंदी माध्यम में करें। बीस इंजीनियरिंग कॉलेज केरल में हैं तो केरल सरकार एक को मलयालम माध्यम दे। ऐसे क्रमबद्ध तरीक़े से परिवर्तन हो सकता है। जैसे, मध्य प्रदेश सरकार ने घोषणा की है कि इंजीनियरिंग की पढ़ाई कोई हिंदी में करना चाहे तो विकल्प रहेगा। इस प्रकार शुरुआत में एक-एक क़दम बढ़ा जाए। अंग्रेज़ी की अनिवार्यता को हटाना होगा। हर स्तर पर अंग्रेज़ी की अनिवार्यता न हो और भारतीय भाषाओं का विकल्प होना चाहिए। किसी को अंग्रेज़ी में देना है, किसी को मलयालम में देना है, किसी को हिंदी में देना है तो वह दे। परंतु आज भारतीय भाषाओं का विकल्प ही नहीं है। विकल्प देना शुरू करना होगा। दूसरी बात है कि जब भी हम यह विषय उठाते हैं प्रश्न आता है कि पुस्तकें कहाँ हैं? अभी पुस्तक नहीं है तो लिखेगा कौन? अकादमिक क्षेत्र में वातावरण बदलने के लिए अपनी-अपनी भाषा में पुस्तक लिखना शुरू हो।

*(**कं. श. :** डॉक्टर लोहिया ने एक सुझाव दिया था कि गर्मियों की छुट्टियों में सारे देश के अध्यापकों को ज़िम्मेदारी दी जाए कि वे अपनी अपनी भाषा में पाठ्यपुस्तक लिख दें या अनुवाद कर दें। तो अंग्रेज़ी एक छुट्टी के बाद हटाई जा सकती है।)* विचार अच्छा है। परंतु उस समय की स्थिति और आज की परिस्थिति में

बहुत अंतर है। आज लोग अपनी भाषा में पुस्तक लिख सकते हैं क्या? यह भी बड़ा प्रश्न है। आप देखिए कि अकादमिक क्षेत्र में संवाद, संगोष्ठी, कार्यशाला में मैं लगभग रोज़ जाता हूँ। हमने वातावरण बदलने का प्रयास किया है। पर परम्परा यह है कि सेमिनार का मतलब अंग्रेज़ी में होना। और मैं आपको बड़े विश्वास से कहूँ कि इन्हें कहा जाए कि अपनी भाषा में बोलो तो आधे घंटे बोलने वाले दस मिनट में बैठ जाएँगे। क्योंकि इंग्लिश में रटा रटाया ज्ञान है। उसमें बोलते हैं और समझने वाले भी कम रहते हैं। आप अपनी भाषा में बोलेंगे तो प्रश्न भी आएँगे। इससे हमारी गुणवत्ता पर भी प्रभाव पड़ा है। किसी भाषा का विरोध नहीं है। हमारे बच्चे समझदार हो जाएँ तो दस भाषाएँ सीखें। एक रणनीति के तौर पर तो भी दुनिया में जिन 10-12 बड़ी भाषाओं का वर्चस्व है, उनमें विद्वान तैयार करने चाहिए। आज हो यह रहा है कि रूस में हमारा कोई राजदूत जाएगा, वह रूसी भाषा को समझता है अंग्रेज़ी भाषा में किताब पढ़ कर। अब अंग्रेज़ी भाषा वालों के अपने पूर्वग्रह हैं रूस के बारे में तो वह रूस के बारे में कितनी अच्छी बात लिखेंगे, यह भी एक प्रश्न है। कोई ग़लत दृष्टिकोण पढ़ कर रूस जाएगा तो क्या होगा। हमें रशियन, फ्रेंच, जर्मनी, जापानी, अरबी, अंग्रेज़ी आदि ऐसी बड़ी दस भाषाओं के विद्वानों को रणनीतिक तौर पर तैयार करना चाहिए। हम एक भाषा के पिछलग्गू हो गये हैं, इससे देश को बड़ा नुक़सान हुआ है।

पूनम बत्रा : ज्ञान और भाषा में बहुत गहराई से जुड़ाव है और यह बात भी सच है कि हमारे देश में भाषा को लेकर बहुत अच्छी पॉलिसी नहीं बनी या चिंतन नहीं हुआ है। हम लोगों ने इसे भुगता भी है और भुगत भी रहे हैं। इसका एक असर यह है कि हमारे बहुत सारे छात्र न अंग्रेज़ी में लिख पाते हैं न अपनी भाषा में लिख पाते हैं। उन्हें लिखने में बड़ी दिक़्क़त होती है। पर मैं ज्ञान को लेकर दो स्तर पर बात कर सकती हूँ। एक उच्च शिक्षा, जो शोध से जुड़ी बात है। शोध करके ज्ञान का सृजन होता है। एक तो यह स्तर है, और एक है कि ज्ञान कोई बँधी बँधाई चीज़ नहीं है जो एक पुस्तक के अंदर हो। यह बात भी बिल्कुल सही है कि केवल अनुवाद करने से बात नहीं बनती है। जब हम यह कहते है कि छात्रों तक ज्ञान को पहुँचाना है तो हम ज्ञान को बड़े ही सीमित रूप में देख रहे होते हैं। यानी किताब के अंदर एक या बीस किताबों के अंदर ज्ञान खोज रहे होते हैं। यह सारे सवाल हमारी संस्कृति से भी जुड़ा हुआ है।

शिक्षा के क्षेत्र में मैंने काम किया है। कोई बड़ी हैरानी की बात नहीं है कि शिक्षा विभाग में जो भी शोध होते हैं वो केवल कर्मकांडीय क़िस्म के होते हैं। केवल एमफ़िल या पीएचडी के लिए। हमारे देश में कोई भी संस्था ऐसी नहीं है जो शिक्षा के नाम से चलती हो। एनसीईआरटी (नेशनल काउंसिल फ़ॉर एजुकेशनल रिसर्च ऐंड ट्रेनिंग) शोध संस्था है पर वह भी मुख्य तौर पर स्कूली पाठ्यपुस्तकों के निर्माण तक सीमित है। आईसीएसएसआर (भारतीय सामाजिक-विज्ञान अनुसंधान परिषद) की जितनी भी संस्थाएँ हैं, तक़रीबन 24 हैं, उनमें से कोई एक भी संस्था शिक्षा पर फ़ोकस नहीं करती। यह सीएसडीएस (विकासशील समाज अध्ययन पीठ) में भी नहीं है। सीएसडीएस में भी जब तक शारदा बालगोपालन थीं तब तक इस विषय में थोड़ा बहुत काम होता था। तो ऐसा कोई रिसर्च सेंटर नहीं है।

उच्च शिक्षा के आँकड़े भी नहीं हैं, क्योंकि दरअसल हम महसूस ही नहीं करते कि उन आँकड़ों की आवश्यकता है। स्कूल के स्तर पर आँकड़े हैं पर वे भी आपस में बात नहीं करते। यह भी एक बड़ी समस्या है। दरअसल, पॉलिसी के स्तर पर एक बड़ी खाई है और इसलिए ज्ञान के सृजन में भी दिक़्क़त है। जब से उदारतावाद का दौर शुरू हुआ तब से हमारे शोध की परिभाषा भी बदलनी शुरू हो गयी। तब से हम भी वही करने लगे जो सरकार ने तय किया। वह कहाँ से आया, चाहे विश्व बैंक से आया, या कहीं और से, जैसे डबल शिफ़्ट स्कूलिंग, पैरा टीचिंग पर बात करने लगे। इस पर शोध करने लगे। दरअसल शोध के जो असल मुद्दे थे उन पर तो हमने शोध किये ही नहीं। इसी कारण हमारे अपने संदर्भ में ज्ञान का सृजन शिक्षा को लेकर नहीं हो पाया। हालाँकि शिक्षा विभाग के बाहर कई लोगों ने काम किया है, चाहे वह समाजशास्त्र हो, इतिहास विभाग हो, राजनीति विभाग हो। पर समस्या यह है कि हम दूसरे विभागों में हुए इन कामों को अपनी रीडिंग लिस्ट का हिस्सा नहीं बनाते। तो, यहाँ हम एक दीवार बनाए रखते हैं।

सतेंद्र कुमार : देखिए ज्ञान-रचना और शिक्षा के माध्यम के बारे में मैं दो-तीन बातें कहना चाहूँगा। मैं ख़ुद हिंदी में पढ़ा हूँ और मैं इस बात को बेहतर तरीक़े से समझता हूँ कि कम से कम जो स्कूली शिक्षा है वह

मातृभाषा में होनी चाहिए। मैं इस बात से भी सहमत हूँ कि ज्ञान-रचना भी मातृभाषा में होनी चाहिए। जब उच्च शिक्षा का स्तर आता है तो उसमें कई चीज़ें देखनी चाहिए। आपने जो बात कही है मैं उस बात से सहमत हूँ कि एक बहुत बड़ी संख्या में 1990 के बाद ऐसे परिवारों के छात्र शिक्षा में आये हैं जो अपने परिवार के पहले स्नातक हैं। बड़ी संख्या में वंचित वर्ग आया है— जैसे ओबीसी, एससी और एसटी। ये वैसे वैसे परिवार से हैं जो मज़दूरी करते हैं या खेतिहर हैं। उनके पास पढ़ने-लिखने की कोई पृष्ठभूमि नहीं है। इस वजह से बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उसमें दो चीज़ें हैं। एक है ज्ञानमीमांसा। जो एक गम्भीर बात है। लोग कम ध्यान देते हैं कि अगर एक छात्र या बच्चा ऐसे परिवेश में बड़ा हुआ है जहाँ उसका संबंध खेती-बाड़ी से है, पेड़-पौधों से है और अचानक उसे बहुत सारी अमूर्त चीज़ें बताई जाएँ तो वे उसके परिवेश से बाहर की चीज़ होने के कारण उसके लिए बड़ी मुश्किल होती हैं। दोहरी दिक़्क़त तब आने लगती है जब उसे ये बातें आप दूसरी भाषा में सिखाते हैं।

भाषा केवल एक माध्यम नहीं है बल्कि एक संस्कृति भी है। भाषा का एक संसार होता है जिसमें छात्र का पूरा दिमाग़ बनता है जिसे कॉग्नेटिव माइंड बोलते हैं। अगर उसी भाषा में ज्ञान दिया जा रहा है तो छात्र उसे बहुत जल्दी रिसीव करता है। इसीलिए शिक्षा मातृभाषा में दी जानी चाहिए, चाहे स्कूली शिक्षा हो या विश्वविद्यालय। इस सैद्धांतिक आग्रह के साथ व्यवहार में कुछ समस्याएँ हैं। आप यह कहते हैं कि ज्ञान-रचना मातृभाषा में होनी चाहिए, तो होनी तो चाहिए, लेकिन इस मामले में हम बहुत लेट हो चुके हैं। अस्सी और नब्बे के दशक का इतिहास देखें तो उस दशक में लोग खूब कुंजियाँ पढ़ते थे जैसे *चित्रा एक गाइड*। अगर आप इतिहास लिखना चाहें कि चित्रा का इतिहास क्या रहा है या शिक्षा में उसका योगदान क्या रहा है तो बड़े ही रोचक तथ्य निकल कर आएँगे। दो-तीन पीढ़ियाँ चित्रा को पढ़ कर ही पास हुई हैं। कुछ लोग आईएस बने, कुछ पीसीएस भी बने और ऐसे तमाम लोग शिक्षा में भी हैं। यहाँ इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है कि यदि आप ज्ञान-रचना नहीं करते, यानी सरकार या संस्थाएँ उसमें रुचि नहीं लेतीं, तो समाज कैसे रास्ता बनाता है। यह दौर था जब शिक्षक नहीं देखना चाहते थे कि छात्रों को अंग्रेज़ी नहीं आती। उसकी कमी किसी और ने पूरी की। यह कमी पूरी की जो उस समय के शिक्षा-उद्यमी थे। पश्चिम उत्तर प्रदेश में सबसे ज़्यादा महाजन और रामजी लाल का बोलबाला है। उनके नोट्स सभी विषयों में पढ़े जाते हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य है कि सरकार या संस्थान अगर पहल नहीं करते तो समाज इसके लिए इंतज़ार नहीं करता। वह अपने लिए दिशा या रास्ता मुहैया करा लेता है। उसका बहुत व्यापक असर इसलिए पड़ता है क्योंकि फिर आप असली और नक़ली ज्ञान में फ़र्क़ नहीं कर पाते हैं। चित्रा और रामजी लाल के नोट्स पढ़ने वालों को पता भी नहीं है कि ये वाली बात सही है या जो किताब लिखी जाती हैं वो सही है। इसलिए मैं कहना चाहूँगा कि इस पर बहुत पहले पहल होनी चाहिए थी। अब हम लेट हो चुके हैं।

ज्ञान-रचना अगर मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा में करनी है तो ये बहुत पहले होनी चाहिए। अब कर पाएँ तो आप साधुवाद के पात्र होंगे। क्योंकि दो पीढ़ी तो आपने कुंजी पढ़ा कर निकाल दी। आगे मुश्किल यह होगी कि छात्र कहेंगे कि कुंजी बढ़िया है। इसमें पाँच सवाल हैं, न कि वह मोटी किताब। यह सिस्टम चल रहा है जिसने तोड़ने का सवाल हवा में लटका हुआ है।

ज्ञान-रचना के संबंध में मैं बार-बार कहता हूँ कि विश्वविद्यालय के बाहर ज्ञान-रचना होती रही है। उसका भी हमें स्वागत करना चाहिए। विश्वविद्यालय में उन्हें भी शामिल करना चाहिए। ज्ञान एक तरह से शक्ति-प्रतिष्ठित होती है और विश्वविद्यालय शक्ति के केंद्र होते हैं। उन्हें बाहर के ज्ञान को लाने में बड़ा संकोच होता रहता है। उस पर संशय रहता है। पदसोपानीयता यह बनती है कि विश्वविद्यालय में जो उत्पादित ज्ञान है वह उच्च स्तरीय है और जो बाहर उत्पादित हो रहा है उसका कोई मूल्य नहीं है या कम मूल्य है। यह भी सोचा जाता है कि ज्ञान की परम्परा में वे लोग हमारी बिरादरी के नहीं हैं। ऐसे ज्ञान को भी विश्वविद्यालय की परम्परा में शामिल करना चाहिए। ज्ञान केवल किताबी चीज़ नहीं है। रोज़मर्रा का जो ज्ञान है अगर हम उसको छापते हैं तो हम ज्ञान को विस्तृत तरीक़े से देख रहे हैं। इससे छात्रों की सृजनात्मकता बढ़ती है।

*(**कं. श. :** भारतीय भाषाओं में ज्ञान-उत्पादन के पीछे एक उसूल यह भी काम करता है कि जब आप भाषा बदलते हैं, अनुवाद से परे आप किसी मूल भाषा में अपने विचारों को प्रकट करते हैं, या सोचते हैं तो ज्ञानमीमांसात्मक परिवर्तन भी होता है और नये क़िस्म का समाज-विज्ञान और नये क़िस्म की ज्ञान-रचना की शुरुआत होती है। यह भी केवल एक व्यावहारिक प्रश्न नहीं है कि मातृभाषाओं में आप अपने ज्ञान की रचना*

विश्वविद्यालय के बाहर ज्ञान-रचना होती रही है। उसका भी हमें स्वागत करना चाहिए। ... ज्ञान एक तरह से शक्ति-प्रतिष्ठित होता है और विश्वविद्यालय शक्ति के केंद्र होते हैं। उन्हें बाहर के ज्ञान को लाने में बड़ा संकोच होता रहता है। उस पर संशय रहता है। पदसोपानीयता यह बनती है कि विश्वविद्यालय में जो उत्पादित ज्ञान है वह उच्च स्तरीय है और जो बाहर उत्पादित हो रहा है उसका कोई मूल्य नहीं है या कम मूल्य है।

करें। यह एक सैद्धांतिक प्रश्न भी है और एक ऐसा सैद्धांतिक प्रश्न है जिसका खण्डन नहीं किया गया है कि आपके इस बारे में क्या मत हैं?)

इस बारे में मैं यही कहना चाहूँगा कि अगर मुझसे कोई कहता है कि आप ग्रामीण समाज की संरचना पर या ग्रामीण समाज में लोग कैसे रहते हैं— इस पर आप किताब लिखिए— यदि यह बात कोई दस साल पहले कहता और अगर उस किताब को देखने और पढ़ने वाले लोग होते और मुझे कहा जाता कि आप अपनी समझ से लिखिए कि आपको वहाँ क्या समझ में आया है— तो उसमें जो निकाल कर आता वो एक प्रकार का ज्ञान होता, क्योंकि वह अपने समाज से जुड़ा है। विश्वविद्यालयों में यदि यह होता तो गुरुजन बताते कि उसमें क्या ठीक है। तो, ये जो आप कह रहे हैं कि छात्र का संज्ञानात्मक दिमाग़ समाज में ही बनता है ठीक है। उसमें दोनों चीज़ें होती हैं। आलोचना भी होती है और समीक्षा भी होती है। और यदि उसको लगातार ट्रेसआउट किया जाए तो मूल ज्ञान उत्पादित किया जा सकता है। और धीरे-धीरे उसी से सिद्धांत निकलेंगे, क्योंकि उसमें समाज की समालोचना भी होती है। *(इसमें आलोचना और पुष्टि दोनों की प्रक्रिया चलती है।)* जी, बिल्कुल। और यहीं से नये ज्ञान का उत्पादन होता होगा।

*(**क. श. :** आप यह कह रहे हैं कि दुर्खाइम को क्या अलग तरीक़े से पढ़ाया जा सकता है? यदि दुर्खाइम को पश्चिमी समाज का एक प्रतीक माना जाए तो पश्चिमी सामाजिक सिद्धांत भारत को समझने के लिए उपयोगी है, और पश्चिमी सामाजिक सिद्धांत समझने के लिए भारत भी उपयोगी है। है न?)* जी हाँ, मुझे यही कहना था कि इनका जो पारम्परिक संबंध है ये एकतरफ़ा न हो। यह न हो कि हम वहाँ जा कर सिद्धांत उठा कर ले आये और यहाँ लोगों को समझाते रहें। यानी हमारा जो ज्ञान है वह भी चिंतकों को समझने में हमारी मदद करे। यानी उनको भी समालोचित करें। इससे हमें बहुत आत्मविश्वास आएगा, एक चिंतक, एक छात्र और एक अध्यापक के तौर पर। क्योंकि हम अपनी ज्ञानमीमांसा से उस समाज को समझ रहे होंगे। तो हम बराबर के धरातल पर अपने को समझेंगे। लगातार यह नहीं कहेंगे कि देखिए हमारे यहाँ दुर्खाइम, फ़ूको या देरिदा हैं या नहीं है। फिर हम ये कहेंगे कि यहाँ के लोग भी वहाँ हैं और वहाँ के लोग भी यहाँ हैं।

नीरज जैन : मैकॉले की शिक्षा नीति का मुख्य ज़ोर ही इस बात पर था कि भारत की भाषाओं को मारा जाए और अंग्रेज़ी को बढ़ावा दिया जाए। मैकॉले ने ख़ुद कहा है कि भारत में ब्रिटिश शासन बनाए रखने के लिए ऐसे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे क्लर्क वर्ग की ज़रूरत है जो भारत में अंग्रेज़ी राज क़ायम करने में हमारी मदद करेंगे। हमारे बहुत से नेताओं ने शुरू से ही इसके ख़िलाफ़ आवाज़ भी उठाई थी ताकि अंग्रेज़ी के स्थान पर भारतीय भाषाओं को जगह मिल सके। गाँधीजी ने कहा था कि विदेशी शासन के दुष्प्रभावों में से एक सबसे बड़ा दुष्प्रभाव यह है कि देश के युवाओं पर विदेशी भाषा का माध्यम थोपा जा रहा है जिससे हमारे देश को भारी नुक़सान होगा। यह न केवल देश की युवा ऊर्जा को ख़त्म करेगा बल्कि शिक्षा को महँगा भी कर देगा। यह प्रक्रिया चलती रही तो देश की आत्मा समाप्त हो जाएगी। इसलिए जितना जल्दी हो सके विदेशी भाषा से हम खुद को मुक्त करें— यह देश और खुद के लिए बेहतर होगा।

आज भी बहुत से पेडागोज़िस्ट हैं जो मानते हैं कि शिक्षा तो मातृभाषा में ही होनी चाहिए। कई शिक्षाविद भी हैं जो अनिवार्य तौर पर कहते हैं कि बच्चों को उनकी शिक्षा मातृभाषा में ही मिलनी चाहिए। शिक्षा-मनोविज्ञानी भी मानते हैं कि अपनी भाषा में ज्ञान प्राप्त करने का संबंध बच्चे की भाषा, संवेदना और संज्ञानात्मक

विकास से जुड़ा होता है। अगर बच्चा अपनी भाषा में सीखता है तो उसका विकास पूर्ण रूप से होता है। इस बात को लगभग सभी मानते हैं। न केवल सीखना आसान हो जाता है बल्कि वह अपनी खुद की बौद्धिक क्षमता को भी बढ़ा पाता है। उसकी सोचने की क्षमता, उसकी सृजनात्मकता सभी बढ़ते चले जाते हैं। जब बच्चा प्रारम्भिक शिक्षा अपनी भाषा में लेता है और बाद में दूसरी किसी भाषा को सीखता है तो वह दूसरी भाषा भी जल्दी सीख जाता है। उसे प्रारम्भ से दूसरी भाषा सिखाने पर ज़ोर देना एक तरह से पेडागोज़िकल डिज़ास्टर है जो बच्चे की सृजनात्मकता को ख़त्म करता है और उसकी मानसिक वृद्धि को भी रोकता है।

स्वतंत्रता के दौरान इस आम सहमति के बावजूद आज़ादी के बाद नेताओं ने भाषा के मुद्दे पर आधे-अधूरे मन से नीति बनायी। जिसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी भारतीय शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा के माध्यम के तौर पर आज भी बनी हुई है। हो सकता है इसके बने रहने के और भी कारण हों पर यह भी एक प्रमुख कारण है। आज़ादी के बाद भी भारत सरकार अंग्रेज़ी नौकरशाही और अंग्रेज़ी अदालती व्यवस्था को ही ढोती रही, और इनकी भाषा भी अंग्रेज़ी ही चलती रही। अंग्रेज़ी उच्च शिक्षा में ज्ञान प्रदान करने के माध्यम के तौर पर बनी रही। सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह समझना है कि भारत का अभिजन और मध्यम वर्ग अंग्रेज़ी में सहज बना रहा। मुख्य तौर पर यह वर्ग जन-शिक्षा के लिए बहुत कम चिंतित रहा। इस तरह कहा जा सकता है कि स्कूली स्तर पर भी भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के लिए कोई प्रभावकारी क़दम नहीं उठाए गये।

समय बीतता चला गया और अंग्रेज़ी की जड़ें हमारे देश में मज़बूत होती चली गयीं। पूरे देश में अभिजनों के लिए अंग्रेज़ी भाषा सामान्य होती चली गयी और धीरे-धीरे अंग्रेज़ी का ज्ञान नौकरियों के लिए अतिआवश्यक हो गया। केवल ऊपरी तबक़ा ही नहीं बल्कि निम्न तबक़ा भी इस बात के प्रभाव में आकर अपने बच्चों को अंग्रेज़ी माध्यम वाले स्कूलों में भेजने लगा। इस तरह पूरे देश में प्राथमिक स्तर पर ही अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों का बोलबाला बढ़ता चला गया। इसी कारण से हमारे बच्चों की रचनात्मकता और सीखने की क्षमता लगातार गिरती चली जा रही है। शिक्षा रोचकपूर्ण या मज़ेदार प्रक्रिया होने की बजाय रट्टा लगा कर सीखने का पर्याय बनती जा रही है।

बहुत से विकसित देश जिनका दुनिया पर अच्छा ख़ासा प्रभाव है और अपने बच्चों को अपनी भाषा में शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। वे अपने सभी सरकारी कार्य, वैज्ञानिक शोध-अध्ययन और व्यापार सभी कुछ अपनी मूल भाषा में ही करते हैं। ये देश दुनिया पर छाए हुए हैं। ये देश हैं— रशिया जो दुनिया की चार प्रतिशत जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है, जापान जो कुल जनसंख्या का दो प्रतिशत, जर्मनी जो कुल जनसंख्या का दो प्रतिशत, फ्रांस जो कुल जनसंख्या का तीन प्रतिशत है। अन्य पश्चिम युरोपीय देश लगभग छह प्रतिशत हैं कुल जनसंख्या के, और सबसे बड़ा चीन है जो कुल जनसंख्या का बीस प्रतिशत है। ये सभी अपनी अपनी मूल भाषाओं में सभी काम करते हैं। विश्व भर में पूरी जनसंख्या का सात प्रतिशत हिंदी बोली वाला है, और भारतीय भाषाओं का हिस्सा तो सत्रह प्रतिशत तक जाता है। वे देश जो जनसंख्या के दो से चार प्रतिशत हैं, यदि अपनी मूल भाषा में सभी कार्य, चाहे शिक्षा हो या शोध या व्यापार, कर सकते हैं तो विश्व भर में सत्रह प्रतिशत वाला देश भारत क्यों नहीं अपनी भाषा में शिक्षा दे सकता, सरकारी काम नहीं कर सकता, या वैज्ञानिक शोध नहीं कर सकता?

रूसी, इतालवी, स्पेनिश, अरबी, तुर्की और अन्य भाषाएँ इसलिए विकसित हुई हैं क्योंकि उन्हें उनके देशों ने बढ़ावा दिया और उनका स्कूलों, कॉलेजों, शोध, व्यापार, नौकरशाही, तकनीकी और अन्य सभी क्षेत्रों में प्रयोग किया गया। उनकी भाषा का लगातार विकास होता गया। विज्ञान, तकनीक, कला, क़ानून और अन्य सभी क्षेत्रों में लोगों ने साहित्यकारों ने नये-नये शब्द गढ़े और उनका सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस तरह उन भाषाओं की शब्द-सामर्थ्य बढ़ती चली गयी। पर भारत में विज्ञान और तकनीक की भाषा अंग्रेज़ी ही बनी रही— अंग्रेज़ों के जाने के बाद भी। इससे भारतीय भाषाओं का विकास रुक गया और इसीलिए आज भारतीय भाषाओं में विज्ञान को पढ़ाना बेहद मुश्किल है। लेकिन अगर हम ये ठान लें कि हमें अपने बच्चों को अपनी भाषा में ही पढ़ाना है और इसे सरकार अनिवार्य कर दे तो धीरे-धीरे भारतीय भाषाओं का भी विकास हो जाएगा, उनके शब्दकोश में भी वृद्धि हो जाएगी और एक समय ऐसा आएगा जब हम भी अपनी भारतीय भाषाओं में अपने बच्चों को विज्ञान और तकनीक सिखा पाएँगे।

III

रोज़गारपरक शिक्षा का सवाल

तीसरा प्रश्न : मेरा तीसरा प्रश्न रोज़गारपरक शिक्षा की आवश्यकता की रोशनी में स्कूली और उच्च-शिक्षा की संरचना पर ग़ौर करने से जुड़ा है। क्या व्यावसायिक शिक्षा के पहलुओं को इन दोनों स्तरों में शामिल नहीं किया जाना चाहिए? क्या इससे शिक्षा को रोज़गारपरक बनाने में मदद नहीं मिलेगी? जिसे इस ओर बढ़ना होगा, वह बीए-एमए में अपना तथा सरकार का समय और संसाधन बर्बाद नहीं करेगा। क्या नयी शिक्षा-नीति ने इस बारे में पर्याप्त चिंतन किया है?

सतीश देशपांडे : व्यावसायिक शिक्षा को ले करके बहुत सारी बातें होती हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र भी माना जाता है क्योंकि इसमें बहुत पैसे लगते हैं। यह एक बहुत कमाऊँ क्षेत्र है, सभी के लिए। जो छात्र यहाँ जाते हैं, वे भी इसी आशा में जाते हैं कि इससे उनकी आर्थिक समृद्धि में मदद मिलेगी। मूल रूप से यह देखना ज़रूरी है कि व्यावसायिक शिक्षा को हम साध्य नहीं साधन के रूप में देखते हैं। जैसे हम सामाजिक विज्ञान को देखते हैं कि ज्ञान अपने आप में साध्य है, वह किसी चीज़ को प्राप्त करने का साधन नहीं है। लेकिन यहाँ हम मान कर चल रहे हैं कि वह साधन मात्र है। इसलिए इस जगत के बहुत सारे प्रश्न शिक्षा के अंदरूनी प्रश्न नहीं होते, बल्कि उसके व्यावसायिक क्षेत्र के प्रश्न हैं, वहाँ से आते हैं। यहाँ एक बहुत बड़ी बात यह है कि हमारा समाज जातिगत समाज है। यहाँ जाति की प्रथा बहुत पुरानी है। इसलिए जिसे व्यावसायिकोन्मुख ज्ञान कहा जाता है, उसे लेकर अलग-अलग गहरे पूर्वग्रह हैं। एक तो यह कि जब तक किसी व्यावहारिक विषय या व्यावसायिक विषय का पूरी तरह से तकनीकीकरण नहीं कर दिया जाता और उसे हाथ के काम से दूर नहीं ले जाया जाता, तब तक वह अभिजन वर्ग के लायक़ नहीं समझा जाता। दूसरे देशों में— जैसे जर्मनी, जापान, और बहुत हद तक अमेरिका में भी तकनीकी शिक्षा का बहुत बड़ा भाग हाथ से काम करने का होता है। ऐसे छात्रों को कम से कम एक साल तक हाथ से काम करना पड़ता है। कई जो डॉक्टरी की पढ़ाई करते हैं जैसे जर्मनी में, उनको छह महीने नर्स का काम करना पड़ता है।

हमारे यहाँ यह बिल्कुल नहीं चलेगा, क्योंकि हमारे यहाँ ख़ासकर व्यावसायिक शिक्षा जातिसूचक है, हैसियत सूचक है, ज्ञान की चीज़ बाद में है। इसे लेकर हमारे यहाँ बहुत सारी अटकलें हैं। बहुत सारी दिक़्क़तें हैं। भारत शायद दुनिया के एक ऐसा देश है जहाँ डॉक्टरों की संख्या नर्सों से ज़्यादा है। आप सहज ही सोच सकते हैं कि चिकित्सा के क्षेत्र में नर्सों की संख्या ज़्यादा होनी चाहिए, बल्कि डॉक्टरों की संख्या की तिगुनी होनी चाहिए, पर भारत में ऐसा नहीं है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जातिगत समाज में हैसियत के मुताबिक़ आपको काम चाहिए और ऐसे मौक़े हमारे पास बेहद कम रहे हैं। डॉक्टरी और इंजीनियरी को ले कर यहाँ यह धारणा बनी हुई है, जिसके कारण व्यावहारिक शिक्षा का रुझान जातिगत ज़्यादा है।

जब तक आप यह नहीं समझेंगे कि यह व्यवस्था जाति आधारित समाज की व्यवस्था है, तब तक बात समझ में नहीं आएगी। दूसरे देशों के बरअक्स हमारी व्यावसायिक शिक्षा की प्रणाली बड़ी अजीब लगेगी। यहाँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सामाजिक-बौद्धिक पूँजी का हस्तांतरण होता है। इसमें व्यावसायिक शिक्षा काम आती है। ऐसा माना जाता है कि आपके पास यदि आर्थिक पूँजी है तो उसे आप अगली पीढ़ी को वसीयत के रूप में सौंप सकते हैं। यह माना जाता था कि डॉक्टरी, वकालत जैसे पेशे जो हुनर पर आधारित हैं, उसे आप केवल काग़ज़ के टुकड़े से हस्तांतरित नहीं कर सकते। पर हमने अपने यहाँ एक व्यवस्था स्थापित कर ली है, जिससे हमारे यहाँ यह भी काग़ज़ के ज़रिये हस्तांतरित हो जाता है। इसे एक ख़ास संज्ञा दी जाती है प्रमाणक पूँजी (वेलिडेशन कैपिटल)। जैसे आपके सर्टिफ़िकेट होते हैं, पीएचडी की डिग्री होती है, वह एक प्रकार की पूँजी है, जिससे आप जीवन भर पैसा कमाते हैं। इस प्रमाणक पूँजी का जो बाज़ार हमारे यहाँ है बड़ा ही अजीब और विकृत बाज़ार है। इसमें बाज़ार के सारे नियम लागू नहीं होते। बाज़ार का एक नियम होता है कि अगर माल घटिया है तो वह दुकान बंद हो जाएगी क्योंकि ग्राहक वापस लौट कर नहीं आएगा। लेकिन व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा नहीं होता। हमारे यहाँ जानकार ग्राहक भी बार-बार उसी दुकान

पर वापस जाते हैं जिसके माल के श्रेष्ठ होने की कोई गारंटी नहीं है। क्योंकि उन्हें तो दरकार है उस काग़ज़ के टुकड़े की। उन्हें दरकार है प्रमाणक की। हुनर की दरकार उन्हें नहीं है।

वे कहते हैं कि हमारा तो ख़ुद का नर्सिंग होम है, अपने लड़के या लड़की को डॉक्टरी नहीं आती तो क्या हुआ? काम कराते हुए सिखा देंगे, लेकिन उसे पद पर आने के लिए जिस डिग्री या सर्टिफ़िकेट की ज़रूरत है उसे कहीं न कहीं से पूरा करना है। इसलिए एक पूरा तंत्र बना हुआ है। इस तरह से सामाजिक हैसियत से जुड़ा हुनर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित किया जाता है। और इसमें सभी संलिप्त हैं। नेता तो हैं ही, क्योंकि सरकार की मान्यता नेताओं द्वारा दिलाई जाती है। पूँजीपति भी संलिप्त है, अभिभावक भी संलिप्त है। सभी इसमें मिले-जुले हैं। सभी का इसमें हाथ है कि जान-बूझ कर हमने अपनी व्यावसायिक शिक्षा को, व्यावसायिक डिग्री को लगभग नीलामी में बदल दिया है। जिसके पास जितना पैसा है वह ख़रीद कर ले जाए और उसके बाद इसके जो भी दुष्परिणाम हों। होते रहें, किसी के साथ कुछ नहीं होता। जैसा हमें लगता है कि ऐसा होना चाहिए पर कुछ होता नहीं। तो, यह जो हमारी बीमारी है, बेहद बुनियादी बीमारी है, हमारी वर्ग संरचना जाति-संरचना से पूरी तरह जुड़ी हुई है। यह अपने आप में अलग चीज़ नहीं है। तो, व्यावसायिक शिक्षा को इन पहलुओं से जोड़ कर देखना ज़रूरी है।

अतुल कोठारी : यहाँ मैं यह शब्द बदलना चाहूँगा। रोज़गारपरक की जगह रोज़गार सृजन करने वाली शिक्षा होनी चाहिए। बालक को शुरू से ही उनकी रुचि और प्रकृति को समझ कर शिक्षा देने का प्रयास होना चाहिए। जैसे विक्रम साराभाई का एक विद्यालय है गुजरात में। वहाँ प्राथमिक विद्यालय में पुस्तकें हैं ही नहीं; जहाँ जिसे हम यूकेजी, एलकेजी कहते हैं। इन बच्चों के लिए एक बड़ा कमरा है उसमें चार हिस्से हैं। चार हिस्सों में अलग-अलग उम्र के बच्चे होते हैं। चार शिक्षक होते हैं। खिलौने पड़े हैं, मशीनें रखी हैं। वहाँ बच्चों को छोड़ दिया जाता है। हर बच्चा अपनी मशीन में लगा रहता है। जब वह कुछ करने का प्रयास करता है यदि उसमें कोई कठिनाई आती है तब शिक्षक मदद करते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान शिक्षक को बच्चे का मानस समझ में आ जाता है। और क्रमबद्ध रूप से जब बच्चे बड़े होते हैं तब उनसे पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तक को जोड़ा जाता है। उनकी रुचि के हिसाब से प्रैक्टिकल ज्ञान दिया जाता है। इससे बच्चा बहुत अच्छे से आगे बढ़ता है। हमारे यहाँ व्यावसायिक शिक्षा के बहुत से प्रयोग हुए, पर सफल नहीं हुए। कारण यह है कि व्यावसायिक शिक्षा को स्वतंत्र रखने की जब बात आती है तो मसला डिग्री पर आकर रुक जाता है। तो शुरुआत में दोनों को साथ रखना होगा। बच्चे को जीवन की आवश्यक बातें पहले सिखाई जाएँ। महात्मा गाँधी ने भी कहा था कि हमारी शिक्षा से श्रम को दूर कर दिया गया है। तो श्रम से शिक्षा को जोड़ दिया जाए। जैसे मुहिम चली है स्वच्छता अभियान की, तो स्वच्छता अभियान को जोड़ा जाए।

हम तो बहुत पहले से कह रहे हैं पर तत्कालीन राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने भी केंद्रीय विश्वविद्यालय की बैठक में कहा कि हर विश्वविद्यालय दस गाँव गोद ले। इससे प्रैक्टिकल ज्ञान और सामाजिक कार्य का अनुभव दोनों साथ-साथ होगा। जैसे बच्चे मैकेनिकल इंजीनियरी की पढ़ाई कर रहे हैं। उस गाँव में मैकेनिकल इंजीनियरी का क्या क्या काम है, उससे उसे जोड़ा जाए। इससे वह प्रैक्टिकल ज्ञान भी सीखेगा और गाँव की ज़रूरत भी पूरी होगी। वॉटर मैनेजमेंट के बच्चे पानी की समस्याओं को कैसे दूर करना है यह सीखेंगे। इस प्रकार समग्रता में विचार करना होगा। टुकड़ों में बात करने से बात नहीं बनेगी। इससे व्यावहारिक ज्ञान भी मिलेगा और सैद्धांतिक ज्ञान भी। इन दोनों को ठीक से समन्वित प्रयास किया जाए तो बात ठीक से बनेगी। आठवीं के बाद जब बच्चा नौवीं कक्षा में आये तो उसे पचास प्रतिशत टेक्नीकल ज्ञान दिया जाए और पचास प्रतिशत सैद्धांतिक ज्ञान दिया जाए। क्रमबद्ध उसे बढ़ाया जाए। दसवीं कक्षा या बारहवीं कक्षा के बाद सत्तर प्रतिशत प्रैक्टिकल ज्ञान दिया जाए। बारहवीं के बाद सौ प्रतिशत प्रैक्टिकल ज्ञान दिया जाए। उस स्तर पर भी तीस प्रतिशत सैद्धांतिक ज्ञान रखा जा सकता है। इस प्रकार ऐसे युवक तैयार होंगे जिन्हें नौकरी मिली तो ठीक नहीं तो अपना व्यवसाय कर सकेंगे। आज कई प्रकार काम ऐसे हैं जिसमें लोग नहीं मिलते। प्लम्बर नहीं मिलते, टेक्नीशियन नहीं मिलते। ऐसे छोटे-छोटे टेक्नीकल काम हैं जिसमें लोग नहीं मिलते। उनको पढ़ाई के साथ में ही इस प्रकार विषयों की शिक्षा प्राप्त होगी तब उनके पास डिग्री भी होगी और व्यावहारिक ज्ञान भी होगा।

*(**कं. श. :** यहाँ मैं अपना एक अवलोकन आपके साथ साझा करना चाहती हूँ। जब डिग्री पर बात की जाती है तो आज ऐसे ऐसे व्यवसायों के लिए भी डिग्री आवश्यक हो गयी है जो पहले आवश्यक नहीं थी जैसे*

बाल काटना व ब्यूटीशियन आदि। मुसलमानों में सुलेमानी पीढ़ी-दर-पीढ़ी बाल काटने का हुनर सीख जाते हैं। एक सुलेमानी से मैं मिली जो इस व्यवसाय में निपुण था परंतु डिग्री न होने के कारण कम वेतन पर काम करने को मजबूर था। डिग्री भी हबीब, लक्मे जैसे संस्थानों से बेहद महँगे कोर्स के बाद मिलती है। दूसरा अवलोकन, लुहार समुदाय से जुड़ा हुआ है। अपने पीएचडी के काम से इस समुदाय के बीच समय व्यतीत करने का मौक़ा मिला। इस समुदाय के बच्चे भी अपने काम में निपुण हैं जैसे लोहे के औज़ार, बर्तन बनाना जानते हैं। पर यह बच्चे स्कूल में कभी यह नहीं बताते कि वे इस प्रकार की कला जानते हैं। उनका कहना है कि अन्य बच्चे इसका मज़ाक़ बनाएँगे और अध्यापक हर ग़लती का कारण हमारा यह काम करना ही मानेंगे। यदि स्कूल इस प्रकार का दृष्टिकोण न रखे तो उन बच्चों के लिए स्कूल और घर दो अलग संसार नहीं होंगे। उन्हें अपनी उस कला को छुपाना नहीं पड़ेगा। इस विरोधाभास को हमारी व्यवस्था ने न केवल बढ़ाया है, बल्कि रोज़गार के परम्परागत ज्ञान को दोयम दर्जा भी दिया है। इस संदर्भ में नयी शिक्षा-नीति ने क्या इस परम्परागत ज्ञान को पोषित करने या आदर देने का लिए क्या कुछ प्रयास किये हैं?) हमने सुझाव दिया है कि जो विश्वविद्यालय प्रणाली से बाहर हैं, लेकिन परम्परागत ज्ञान में माहिर हैं— उन लोगों को भी प्रमाण पत्र देने की व्यवस्था की जाए। ताकि वे भी कह सकें कि हमारे पास प्रमाण पत्र है। यह व्यवस्था युनिवर्सिटी सिस्टम में धीरे-धीरे प्रारम्भ करनी चाहिए। हर क्षेत्र में जो इस प्रकार के लोग हैं, उन्हें भी जोड़ा जाए। इस प्रकार कई तरह के मानक हो सकते हैं।

दूसरी बात यह कि शिक्षा के स्तर पर इस प्रकार के व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का उफ़ान आया है और उसे लूट का धंधा बना लिया गया है। हमारे एक मित्र ने होटल मैनेजमेंट का कॉलेज खोला। लेकिन उन्होंने देखा कि साल डेढ़ साल में बच्चे कोर्स छोड़ कर चले जा रहे हैं। मैंने पूछा ऐसा क्यों? उन्होंने कहा कि हम बच्चों को तीन-चार महीने पढ़ाने के बाद हफ़्ते में चार दिन होटल में व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए भेजते हैं और बाक़ी दिन कॉलेज बुलाते हैं। वे जिस होटल में जाते हैं वे होटल वाले ही कहते हैं कि तीन साल पढ़ने की क्या ज़रूरत है—हम आपको नौकरी देते हैं, आ जाओ। बच्चे छोड़ कर चले जाते हैं। तो होटल मैनेजमेंट के कोर्स को तीन साल की ज़रूरत नहीं है। उससे संबंधित सिद्धांत सिखाने के लिए छह माह से एक साल बहुत है। प्रैक्टिकल अनुभव दे दिया जाए तो काम पूरा हो गया। पर इसमें हम लाखों रुपये नहीं वसूल पाएँगे। यह निजीकरण के कारण हुआ है। अभी जो कौशल-विकास शुरू हुआ है, यदि उसका सही प्रयोग किया जाए तो कुछ हो सकता है। अभी बस्तर में एक कलेक्टर थे। वे मुझे मिले। उन्होंने कहा कि हमने आस-पास के इलाक़ों में एक सर्वे किया। हमने यह भी कोशिश की कि वहाँ के युवक इलाक़ों से बाहर न जाएँ। पर उन्हें रोज़गार कैसे मिले? गाँव में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है। कुछ थोड़ा पढ़ कर भटक रहे हैं, कुछ नक्सली बन जाते हैं, कुछ बाहर चले जाते हैं। हमने वहाँ दो माह से लेकर छह माह तक के कौशल विकास के कोर्स शुरू किये। उन्होंने कहा आप रायपुर के आसपास के होटल में जाएँ वहाँ हमारे बच्चे आपको मिल जाएँगे। किसी भी कारण से गाँव में ज़्यादा पढ़ाई नहीं कर पाए ऐसे बच्चों को छह माह या साल भर में इस प्रकार के पाठ्यक्रम करके अच्छा रोज़गार मिल सकता है। इस प्रकार के विचार अनेक स्तर पर करने होंगे।

एक अंतिम बात। मानव शक्ति (मैन पॉवर) सर्वे होना चाहिए। देश में किस-किस प्रकार के कितने लोग आवश्यक हैं? इस प्रकार वैश्विक स्तर पर किस प्रकार के लोगों की माँग हैं? इसको आधार बनाकर हमारे पाठ्यक्रमों की रचना होनी चाहिए, संस्थाओं का निर्माण होना चाहिए। अभी मैंने एक छात्र को बताया कि प्लम्बर का कोर्स कर लीजिए। मान लो हमारी सोसाइटी है। ऐसी आसपास की दस-बारह सोसाइटी और हैं। वहाँ प्लम्बर भी चाहिए, इलैक्ट्रीशियन भी चाहिए, मोबाइल रिपेयर करने वाला भी चाहिए। आप आठ-दस लोग मिलकर कम्पनी बना लो। सभी मिल कर कांट्रेक्ट ले लीजिए कि हर काम का सौ रुपये देना है। मेरे घर में पाँच तरह का काम है तो पाँच सौ रुपये और साधन सामग्री का ख़र्चा अलग से लिया जाएगा। इससे आप सैकड़ों बच्चों को रोज़गार दे सकते हैं। इसमें आप स्वतंत्र भी रहेंगे। चार दिन काम न भी करेंगे, तो कोई पूछने वाला नहीं है। इस प्रकार कई तरह के रोज़गार का सृजन हो सकता है, जिसे दिशा देने की ज़रूरत है।

एक छोटी कहानी है कि पहले तो रेल कोयले से चलती थीं। एक बार रेल जा रही थी। बारिश इतनी ज़्यादा आ गयी कि पानी रेल के पहियों तक आ गया और गाड़ी रुक गयी। दो-चार घंटे बाद बारिश बंद हुई और पानी भी चला गया। लेकिन फिर भी रेल नहीं चली। एक जागरूक व्यक्ति ने ट्रेन से उतर कर पूछा कि

ट्रेन अभी क्यों नहीं चल रही है। बारिश तो रुक गयी और पानी भी चला गया तब ड्राइवर ने कहा ट्रेन में पानी नहीं है। कोयले की ट्रेन में पानी चाहिए होता है। बिना पानी के वह नहीं चलती है। पुरानी कारों में भी एक प्रकार का पानी डालना पड़ता था। पहले वहाँ पानी इतना ज़्यादा था कि ट्रेन रुक गयी थी, पर बाद में उस इंजन को जिस प्रकार के पानी की ज़रूरत थी वैसा पानी नहीं था। तो कहीं हमारे देश की स्थिति उसी ट्रेन की भाँति तो नहीं है? हमारा देश सबसे ज़्यादा युवाओं की संख्या वाला देश है, पर जैसा युवा देश-दुनिया को चाहिए, उसी प्रकार की गुणवत्ता हमारे युवाओं में नहीं है।

पूनम बत्रा : आज वह दौर चल रहा है जहाँ रोज़गारपरक शिक्षा को शिक्षा का अहम विषय माना जाता है। दो बातें इसमें शामिल हैं। एक यह कि दसवीं या बारहवीं के स्तर पर शिक्षा को रोज़गार से स्ट्रीमलाइन कर देना, जो काफ़ी पहले से चल रहा है। यह हमारे सीबीएसई (केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा परिषद) के पाठ्यक्रम में भी है कि जो विद्यार्थी अकादमिक विषयों की तरफ़ जाना चाहते हैं वे वहाँ जाएँ और जो वहाँ न जा कर व्यवसाय से जुड़ना चाहते हैं वे वहाँ जाएँ। उनकी शिक्षा उन्हें रोज़गार के लिए तैयार करे। एक स्तर पर इसमें कोई बुराई नहीं है, पर अगर हम रोज़गारपरक शिक्षा को केवल स्किल डिवेलपमेंट मानते हैं और उसमें ज्ञान की कोई भूमिका नहीं है तो दिक़्क़त है। यदि एक छात्र को एक व्यवसाय, जैसे टूरिस्ट गाइट ही लीजिए, उसका भी रोज़गार करना है तो उसे इतिहास का पैना ज्ञान होना ज़रूरी है। उसे उससे अलग कर देना एक दिक़्क़त है— उच्च शिक्षा के स्तर पर या प्लस टू के स्तर पर।

जहाँ तक सवाल है रोज़गारपरक शिक्षा का कि प्राथमिक स्तर बच्चों को उससे स्ट्रीमलाइन कर देना चाहिए तो उसमें बहुत बड़ी दिक़्क़त है। क्योंकि मुझे लगता है आरम्भ में यह कोशिश होनी चाहिए कि सभी विषयों का ज्ञान एक पैने तरीक़े से बच्चों को दिया जाना चाहिए। न कि बच्चों को एक रोज़गार की तरफ़ स्ट्रीमलाइन कर दिया जाए। इसका एक मतलब यह भी हुआ कि बहुत ही छोटी उम्र में हम यह तय कर रहे हैं कि बच्चे किस क़ाबिल हैं। यह पेडागॉजिकली भी ठीक नहीं है और मनोविज्ञान के लिहाज़ से भी ठीक नहीं है। बच्चों को इतनी छोटी उम्र में स्ट्रीम लाइन करना ठीक नहीं है। बच्चों के ख़ुद के विकास के लिए यह बहुत ही हानिकारक है।

*(**कं. श. :** तो यह किस स्तर पर किया जाना उचित होगा?)* प्लस टू का स्तर सही माना जा सकता है, पर उसे भी एकदम कौशल आधारित न मान कर ज्ञान से जोड़ना चाहिए। जैसे पत्रकारिता का कोई कोर्स बनाना है प्लस टू के स्तर पर, तो पत्रकार कोई तभी बन सकता है जब उसे समाज का गहरा ज्ञान हो, विभिन्न आयामों का ज्ञान हो। उसे राजनीति, समाजशास्त्र, आर्थिक स्थितियों का आदि सभी का ज्ञान हो। जो कुछ भी समाज-विज्ञान में आता है उसे किसी भी तरह काटना नहीं चाहिए। मेरा मानना है कि प्लस टू के स्तर पर शिक्षा को रोज़गार के साथ जोड़ना एक सही एंट्री पॉइंट हो सकता है। *(तो प्लस टू के स्तर पर छात्रों को स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे चाहे तो परम्परागत विषयों की ओर जाएँ या रोज़गारपरक विषयों का चयन करें।)* हाँ, उन्हें चयन करने की स्वतंत्रता दी जा सकती है पर उन्हें रोज़गार की तरफ़ या किसी तरफ़ धकेलना नहीं है। असल में स्कूल और पॉलिसी बनाने वालों का यह सोच होता है कि जो बच्चे अच्छे नम्बर नहीं लाते उन्हें व्यवसाय की ओर धकेला जाए। पॉलिसी का यह जो परिप्रेक्ष्य है वह ग़लत है, क्योंकि उसकी नींव ही ग़लत है। हम यह मान कर चल रहे हैं कि जो बच्चे अकादमिक अध्ययन नहीं कर सकते वे किसी व्यवसाय से जुड़ कर रोज़गारपरक शिक्षा लेंगे। पर रोज़गारपरक शिक्षा के हमें अपने मायने बनाने हैं— उसकी क्या अहमियत है समाज में, ज्ञान से वह किस तरह से जुड़ी हुई है? इसे अलग देखना या यह देखना कि अकादमिक अध्ययन से रोज़गारपरक शिक्षा निचले स्तर की चीज़ है— यह परिप्रेक्ष्य समस्याग्रस्त है।

सतेंद्र कुमार : मैं इस प्रश्न का जवाब भी अपने शोध से जोड़ कर दो-तीन बातों के साथ देना चाहूँगा। एक तो यह कि ज़्यादातर रोज़गारपरक शिक्षा को स्कूल के बाद आठवीं के बाद या जहाँ तक लोग उचित समझें इंटीग्रेट करना चाहिए। इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि ग्रामीण समाज की 60-70 प्रतिशत आबादी को ध्यान में रख कर देखना चाहिए कि किस छात्र की किसमें रुचि है? यह कैसे पता चलेगा? बहुत बार स्कूल इस बात को लेकर तैयार ही नहीं है, शिक्षक तैयार नहीं है। उन्हें इस बात से मतलब ही नहीं है कि छात्रों की रुचि किसमें है। शिक्षक छात्रों को पढ़ाते चले जाते हैं और छात्र पढ़ते चले जाते हैं— बिना मन के।

पहले वाली बात में मैं यह जोड़ना भूल गया कि नक़ल का साम्राज्य जो बना है उसका एक कारण भाषा का है। जैसे, मेरे गाँव के बच्चों को आप दुर्खाइम कैसे पढ़ाएँ कि वे समझ पाएँ। उन्हें दुर्खाइम के बारे में नहीं पता पर उसे वहाँ के लोकल विद्वान के बारे में बताया जाए तो वे ज़्यादा समझ पाएँगे। तो इसकी कमी पूरी होती है नक़ल करके। उन्हें कोई समझाने वाला नहीं होता। शिक्षा की ये जो पूरी प्रक्रिया है उसे वे समझ नहीं पाते कि पढ़ाई किस चीज़ की करें, या रोज़गार की पढ़ाई करें।

इस बात को मैं और साफ़ करता हूँ। मैं इलाहाबाद में पढ़ाता हूँ। इलाहाबाद कोचिंग का बड़ा सेंटर है। पीएचडी के छात्र का बायोडेटा अगर हम आपको दिखाएँ तो वो सिपाही की भी तैयारी करते दिखेगा, प्राइमरी टीचर की भी, बीएड की भी। इससे इस बात की पोल खुलती है कि छात्र को पीएचडी तक आते-आते ये भी नहीं पता चला कि उसको सिस्टम में क्या मिलेगा। एक तो यह बड़ा सवाल है कि सरकार रोज़गार उपलब्ध करा पा रही है क्या? दूसरा, छात्रों को अपनी रुचि की पढ़ाई करने की सुविधाएँ हैं भी या नहीं? एक तो यह होता है कि आप ख़ुद तय करें, और एक होता है कि सिस्टम आपको इतना सक्षम बनाए कि आप ख़ुद भी जान लें कि मैं क्या कर सकता हूँ या कर सकती हूँ। ये जो आप कर रहे हैं कि एक साथ बहुत सारी तैयारी की जाए कि कहीं पहुँच जाएँ। फिर जहाँ भी पहुँच जाते हैं तो उन्हें लगता है मुझे तो ये करना ही नहीं था, मजबूरी में आ गया। जैसे आप प्राइमरी टीचर बन गये, फिर आप प्रतियोगिता परीक्षा की तैयारी करते हैं और बच्चों को नहीं पढ़ाते। फिर आप अपनी रुचि ढूँढ़ते हैं। तो ये एक बड़ा सवाल है। जिसका एक छोर सरकार से जुड़ा है कि सरकार कैसा रोज़गार मुहैया करा सकती है। दूसरा छोर शिक्षण संस्थाओं से जुड़ा है कि जिनमें छात्र अपनी रुचि के अनुसार पढ़ाई कर सकते हैं कि नहीं। तीसरा, शिक्षा प्रणाली से कि क्या वह उन्हें चयन के लिए सक्षम कर सकती है, और तब ये बात आती है कि रोज़गारपरक शिक्षा आप कहाँ से शुरू करें। स्कूल स्तर से करें या बाद में। स्कूल से मेरा मतलब आठवीं या दसवीं के बाद है। जब प्रारम्भिक शिक्षा हो जाए, तब जिसकी जिसमें रुचि हो, वह वहाँ जाए।

मुझे नहीं लगता सबको विश्वविद्यालय जाने की ज़रूरत है। विश्वविद्यालय में आ कर आप सिपाही की तैयारी करें तो वह तो आप दसवीं के बाद भी कर सकते थे। तो ये अनडूइंग है। आपको इतनी डिग्री लेने की ज़रूरत क्या थी? कोई ज़रूरत नहीं कि सभी प्रोफ़ेसर बनने की कोशिश करें। ये भी एक मिथक है कि विश्वविद्यालय में सभी लोग प्रोफ़ेसर बनना चाहते हैं। यानि शिक्षा में एक सिस्टम ऐसा होना चाहिए कि छात्र सक्षम हो या टीचर बता पाए कि आपकी रुचि इसमें है, आप इसमें बेहतर कर पाएँगे। इसका बहुत अहम रोल है। यहाँ छात्र को परामर्श की ज़रूरत है। यहाँ नयी-नयी विधाएँ भी आनी चाहिए। इस पर सरकार को जितना ध्यान दिया जाना चाहिए इसका हमने विफल आयाम भी देखा है। जैसे बी.टेक. में लाखों की संख्या में लोग आ गये। तो, इस पर ध्यान देने की ज़रूरत है कि बी.टेक. करके भी 12,000 की नौकरी है और दसवीं करके आईटीआई करके भी 12,000 की नौकरी है। इसका सीधा-सीधा हल यह नहीं है कि आप रोज़गारपरक शिक्षा से जोड़ देंगे तो मामला बन जाएगा, बल्कि सरकार को भी संसाधन बढ़ाने होंगे। शिक्षा को भी उस स्तर पर ले जाना होगा कि संस्थान और उद्योग आपस में जुड़ें और रोज़गार उत्पन्न हो।

नीरज जैन : मैं रोज़गारपरक शिक्षा के ख़िलाफ़ नहीं हूँ पर आज इसे जिस तरह से बढ़ावा दिया जा रहा उससे दिक़्क़त है। आज वर्ल्ड बैंक द्वारा मोदी सरकार पर नव-उदारतावादी मॉडल के तहत इसे थोपा जा रहा है। नव-उदारतावादी मॉडल ही हर चीज़ को चला रहा है— कॉरपोरेट घरानों के लाभ को बढ़ाने से ले कर शिक्षा तक। इसमें शिक्षा को मानव विकास के एक मुख्य आयाम के तौर पर देखे जाने की ज़रूरत की महसूस नहीं की जाती। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य युवाओं को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए कर्मचारी तैयार करके देना है। इसके लिए युवाओं को विभिन्न कौशलों में दक्ष करने की मुहिम चलाई जा रही है। यह दर्शन भाजपा और संघ की विचारधारा से बहुत मेल खाता है जो युवाओं को उग्र हिंदुत्व की सेवा हेतु बिना सोच वाला मानव बनाना चाहते हैं।

एक तरफ़ मोदी-जेटली का जोड़ा उच्च शिक्षा संस्थाओं के बजट में कटौती करके धीरे-धीरे उन्हें ख़त्म करता जा रहा है। दूसरी तरफ़ यह सरकार कौशल विकास के नाम पर फ़ंडिंग दे रही है। 2014 में सत्ता में आने के बाद भाजपा सरकार ने कौशल विकास और उद्योग मंत्रालय की शुरुआत की जिसका मुख्य प्रोग्राम प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना है। इसकी निर्धारित राशि में पिछले तीन सालों में तीन गुनी वृद्धि की गयी है। इस साल

इस प्रोग्राम में 12 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। स्किल इण्डिया को मेक इन इण्डिया का नाम दे दिया गया। आज इन सभी प्रयासों का मुख्य उद्देश्य ऐसे वातावरण को बढ़ावा देना है जिसमें कम से कम लागत में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उत्पादन कर अधिक से अधिक लाभ कमा सकें। इसके लिए श्रम क़ानून को समाप्त किया जा रहा है। ये कम्पनियाँ ठेके पर मज़दूरी लेती हैं और उतना ही देती है जितना उनका मन हो। यह सब कुल मिलाकर श्रमिकों को कम से कम वेतन पर 10 से 14 घंटे तक काम करने पर मजबूर करने के लिए है।

और अंत में : कुछ कार्यक्रमगत सुझाव

कंचन शर्मा : इस समस्त संवाद के मद्देनज़र आपके पास कोई कार्यक्रमगत सुझाव हो, जिससे इन समस्याओं को सुलझाने में मदद मिल सके?

सतीश देशपांडे : पिछले दो दशकों में, यानी इक्कीसवीं शताब्दी में अगर सबसे बड़े बदलावों या परिवर्तनों की गिनती होगी तो शिक्षा पहले तीन नम्बर में ज़रूर शामिल होगी। शिक्षा में बहुत बदलाव आया है। सामाजिक परिवर्तन का यह एक तरह से प्रमुख प्रकार रहा है। ख़ासकर उच्च शिक्षा में जो परिवर्तन आया है, भारत और चीन में जिस तरह से छात्र उच्च शिक्षा में आये हैं, वह मानव-इतिहास में उपलब्ध नहीं है। यह अभूतपूर्व है। जिस तादाद में लोग उच्च शिक्षा में उतरे हैं वह वाक़ई क्रांतिकारी है। इसे ले कर सजग होने की ज़रूरत है, क्योंकि इसकी जहाँ सम्भावनाएँ हैं वहीं इससे भारी संकट भी पैदा होता हो सकता है। उच्च शिक्षा की सामाजिक संरचना लगभग पूरी तरह से बदल गयी है।

एक ख़ास चीज़ पर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ— वह शायद लीक से हट कर है। शिक्षा के बारे में जब हम सोचते हैं तो हमेशा सोचते हैं कि इससे कुछ कोई विद्या मिल रही है, लेकिन शिक्षा अपने आप में एक सामाजिक अवस्थान भी है। इस दृष्टि से हम सोंचे तो उच्च शिक्षा एक बहुत ही अहम अवस्थान है। मेरे ख़्याल से यह एक ऐसा स्थान है जहाँ समाज के हर तबक़े से लोग आते हैं। कम से कम औपचारिक या सैद्धांतिक तौर पर बराबरी के धरातल पर आते हैं। आप किसी और क्षेत्र से इसकी तुलना कर के देख लें। काम या व्यवसाय के क्षेत्र में हर तबक़े से लोग आते हैं— पर यह बराबरी के स्तर पर नहीं होता। कामकाजी दुनिया श्रेणीबद्ध होती है। राजनीति में भी देख सकते हैं कि यहाँ सब तरह के लोग आते हैं पर महिलाएँ बेहद कम हैं। लेकिन, उच्च शिक्षा में महिलाओं का योगदान 47 प्रतिशत है। अगर आप इसे बाँट कर देखें, इंजीनियरिंग, डॉक्टरी इत्यादि में तो बात अलग लगती है। लेकिन अनुपात अच्छा है 47 प्रतिशत का। ख़ास कर इक्कीसवीं शताब्दी में हर तबक़े से लोग हैं— चाहे नीतियों के कारण हो या आरक्षण के कारण। यहाँ लोग एक दूसरे से घुल-मिल सकते हैं और सैद्धांतिक तौर पर लोगों को यहाँ बराबरी का दर्जा मिलता है। इसके कारण शिक्षा से बिल्कुल भिन्न सामाजिक बदलाव निकल सकते हैं। इन पर ध्यान देना ज़रूरी हैं। आप देख रहे होंगे कि कई सामाजिक बदलाव, जैसे स्त्री-पुरुष के रिश्तों के संदर्भ में जो बदलाव आ रहे हैं, सभी कहीं न कहीं उच्च शिक्षा से जुड़े हुए हैं। कई तरह के अनुभव जो हमारे युवाओं को पहले उपलब्ध नहीं थे अब हो रहे हैं और इसके कारण अच्छे-बुरे दोनों तरह के बदलाव आ रहे हैं। मेरे ख़्याल से मोटे तौर पर समाज के लिए यह अच्छा है क्योंकि समेकित समाज का यह एक छोटा रूप है। बहुत सारी कमियाँ हैं, लेकिन हमारे पास जो है वह यही है।

जैसे अतुल कोठारी का कहना है कि समाज का शिक्षा से रिश्ता होना चाहिए। इसे अगर आप आंशिक रूप से देखें, तो यह बात अपने आप में वाजिब लग सकती है। यह सही है कि कई मायनों में उच्च शिक्षा समाज से उखड़ गयी है और जिस तरह उखड़ी है उसे सराहनीय नहीं कहा जा सकता। लेकिन दूसरी तरफ़ हमें यह भी देखना है कि उच्च शिक्षा का एक प्रकार्य यह भी है कि वह समाज में समीक्षात्मक दृष्टि को विकसित-पोषित करने में सहायक बने। जो मान्यताएँ, मूल्य और तर्क समाज में वैसे भी शक्तिशाली हैं या शक्तिशाली तबक़े से हैं, उन्हें संरक्षण की ज़रूरत नहीं है, वे तो अपने आप फलेंगे-फूलेंगे क्योंकि उनके साथ शक्ति है, सत्ता है। सत्ता के ख़िलाफ़ जो विचार होते हैं, उन्हें एक ख़ास जगह चाहिए, संरक्षण चाहिए, पोषण चाहिए और यह उन विचारों के लिए ही अच्छा है। अगर मैं मानता हूँ कि मैं हिंदुत्व में विश्वास करता हूँ, हिंदुत्व की परिभाषा पर मत जाइए, अगर मेरा विश्वास पक्का है तो मेरा काम यह होना चाहिए कि इस विचार को चुनौती दी जाए, इसकी परीक्षा ली जाए, बार-बार परीक्षा ली जाए ताकि यह और मज़बूत होता चला

जाए। ऐसा काम करने के लिए ही विश्वविद्यालय हैं। इनका एक काम यह भी है और हम यह भूलते चले आ रहे हैं। इसका भद्दा और सतही उदाहरण है कि राष्ट्रविरोधी का बिल्ला लगा देना। तो, राष्ट्र के समर्थन में आपको क्या करना चाहिए? राष्ट्र का समर्थन क्या है? राष्ट्र क्या है? इसके बारे में सोचने के लिए आपको जब तक खुली जगह न मिले, जब तक जितने भी प्रकार के राष्ट्रवाद हों, उनकी जब तक समीक्षा न हो, तब तक पुख़्ता राष्ट्रवाद भी नहीं बन सकता। इसलिए समाज ने ऐसा क्षेत्र चुना है। सभी विश्वविद्यालय कमोबेश राजसत्ता द्वारा चलाए जाते हैं और वे राजसत्ता का ही समर्थन करते हैं। लेकिन आधुनिक विश्वविद्यालय की जो परिकल्पना है उसमें इसके बावजूद कि वे हमेशा सत्ता के समर्थक रहे हैं। समर्थक होना लाज़िमी भी है, क्योंकि उन्हें संरक्षण वहीं से मिलता है, जैसे संसाधन वहीं से मिलते हैं, लेकिन इसके बावजूद उसमें ऐसे छोटे-छोटे द्वीपों के होने की सम्भावना बनी हुई है जहाँ भिन्न मत रखे जा सके। समीक्षात्मक विचार पैदा हो, यह सत्ता के लिए भी अच्छा है और ऐसा सोचना दूरगामी है। इस तरह की दूरगामी सोच जिस समाज में लुप्त हो जाएगी, उस समाज का भविष्य अंधकारमय ही होगा।

अतुल कोठारी : मूल बात यह है कि हमारे देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था है। एक मानस ऐसा बन गया है कि सब कुछ सरकार करेगी। दो-चार लोग या दो सौ लोग बैठ कर चर्चा करते हैं और अंतिम बात यह आती है कि सरकार यह सब नहीं कर रही। जिस लोकतांत्रिक देश में समाज सरकार पर निर्भर हो जाएगा वह लोकतंत्र कभी सफल नहीं हो सकता। समाज का यह भी दायित्व है कि लोकतंत्र में सरकार ठीक से न चले तो उस पर दबाव-निर्माण करे। बाक़ी हमारे देश में सब कुछ है। हम सब चुनौतियों से पार पा सकते हैं पर हमारे देश में यह व्यवस्था बन गयी है कि सब कुछ सरकार करेगी। सरकार पर यदि आप निर्भर हो गये तो वह आपका शोषण करेगी ही— कोई भी सरकार हो। इस हेतु समाज की जागरूकता आवश्यक है। शिक्षा क्षेत्र के लिए यह ज़्यादा आवश्यक है। हमने जितने भी प्रयोग किये एक भी सरकार की सहायता से नहीं किये, और उसमें बहुत धन की आवश्यकता नहीं होती। सरकार सब कुछ करेगी इस सोच में सत्तर वर्ष निकल गये, परंतु शिक्षा में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आया। इस दृष्टि से समाज में एक भाव निर्माण करना ज़रूरी है। इस हेतु बहुत बड़ा जनजागरण देश में आवश्यक है कि शिक्षा सिर्फ़ सरकार का दायित्व नहीं है। समाज का हर व्यक्ति शिक्षा से जुड़ा है। समाज-आधारित शिक्षा कैसे बने? इस प्रश्न में ही सभी समस्याओं के उत्तर हैं।

पूनम बत्रा : यह बिल्कुल साफ़ है कि इस वक़्त जो दिशा नयी शिक्षा नीति ले रही है, वह ठीक नहीं है, हालाँकि अभी नीति से जुड़े सारे पर्चे हमारे सामने नहीं आए हैं। अभी कमेटी इस पर काम कर रही है, पर जो संकेत मिला है उसमें सबसे पहली यह बात है कि समाज-विज्ञान को इसमें बहुत कम जगह मिल रही है— स्कूलों में भी और और उच्च शिक्षा में भी। मुझे लगता है कि इस कोण से इस पर विचार करने की ज़रूरत है। सामाज-विज्ञान समाज में बहुत अहम भूमिका निभाता है। कोई भी शिक्षा उसके बिना नहीं होनी चाहिए। हम तो यह कहते हैं कि सारी व्यावसायिक शिक्षा भी केवल व्यावसायिक नहीं होनी चाहिए। अगर हम विज्ञान की बात करते हैं, इंजीनियरिंग की या मेडिकल की बात करते हैं, तो भी सभी क्षेत्रों में समाज-विज्ञान का स्पर्श ज़रूर होना चाहिए।

पिछले एक या एक से ज़्यादा दशकों में जितने भी प्रयास हुए हैं, जहाँ प्राइवेट सेक्टरों ने स्पेस घेरा है स्कूली शिक्षा में। इसे हम कहेंगे 'लो फ़ीस पेइंग प्राइवेट स्कूल'। यह शिक्षा पर और ख़ास कर आरटीई पर असर डाल सकता है। मुझे लगता है यह क़तई नहीं होना चाहिए। शिक्षा के विकल्प के नाम पर इसे लाया जा रहा है। ऐसे सभी स्कूलों में आरटीई के जो भी मानक हैं, चाहे वे पाठ्यचर्या को लेकर हों, शिक्षक को लेकर हों या शिक्षक-छात्र अनुपात को लेकर हों। सभी मानकों का उल्लंघन हो रहा है। यह नहीं होना चाहिए।

इससे जुड़ा एक सवाल यह है कि आरटीई के संदर्भ में पाठ्यचर्या की रूपरेखा क्या होनी चाहिए और पेडागॉज़िकल प्रोसेस कैसा होना चाहिए? यह आरटीई के एक्ट में ही निहित है। आरटीई यह कहता है कि स्कूलों में बच्चों को एक सुरक्षित, बिना डर का माहौल देना चाहिए ताकि बच्चे सीख सकें। इसके अंतर्गत हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि हमारी शिक्षा नीति में इस तरह के प्रावधान हों ताकि हम शिक्षकों की प्री-सर्विस, इन-सर्विस और ऑन गोइंग टीचर सपोर्ट में ये तमाम बातें शामिल कर सकें, ताकि टीचिंग-लर्निंग का माहौल भी आरटीई के अनुकूल बन सके। और, यह सम्भव हो कि बच्चे ऐसे वातावरण में सीख सकें।

फ़ेल न करने की नीति को हटाने का मतलब है कि हम एक तरह का भय पैदा कर रहे हैं कि हम आपको फ़ेल कर देंगे। यह आरटीई के अनुकूल नहीं है। नयी शिक्षा नीति में केवल यही बात हो रही है कि आरटीई में लर्निंग आउटकम को भी लेकर आना है। जबकि यह नहीं लाना चाहिए। नहीं तो सारी शिक्षा प्रणाली केवल लर्निंग आउटकम की तरफ़ झुक जाएगी और लर्निंग प्रोसेस, लर्निंग एक्सपीरिएंस पर ज़ोर देना बंद कर देंगे। *(**कं. श. :** आप पहले कह रही थीं कि आरटीई की निगरानी के लिए कोई एक संस्था नहीं है। इसे लेकर आपके कुछ सुझाव हैं)* जी, आरटीई में एक प्रावधान है जहाँ एनसीपीसीआर और राज्य स्तर के संगठन हैं, उन्हें काम करना है पर यह हो नहीं रहा है। सब कुछ काग़ज़ पर है। एनसीटीई भी एक संस्था है जो शिक्षकों की योग्यता की निगरानी कर रही है, पर इस वक़्त हो कुछ भी नहीं रहा है।

*(**कं. श. :** शिक्षकों की योग्यताओं के लिए एनसीटीई है और एनसीपीसीआर का कार्य बच्चों की सुरक्षा सुनिश्चित करना है, पर आरटीई के समस्त प्रावधानों को सही से लागू कराने और निगरानी रखने के लिए कोई एक संस्था है क्या जो समग्रता से आरटीई की निगरानी करे?)* ऐसी कोई संस्था नहीं है। मैं कह चुकी हूँ कि सर्व शिक्षा अभियान इंप्लीमेंटिंग एजेंसी है जिसे अब मर्ज किया जा रहा है। इस तरह यह अभियान भी आरटीई की देखरेख के लिए अपने आप में इंप्लीमेंटिंग एजेंसी नहीं रह जाती। देखा जाए तो अभियान एक प्रोजेक्ट है, संस्था नहीं है। यानी उस तरह से आरटीई के कार्यान्वयन की देखरेख के लिए कोई एक समग्र एजेंसी नहीं है एनसीपीसीआर के अलावा। पर एनसीपीसीआर भी कितना कर रही है और किस स्तर पर निगरानी कर रही है— यह राज्य स्तर का भी विषय बन जाता है। हर राज्य को अपने स्तर पर भी काम करना है। पहले भी मैंने यह बात रखी थी कि राज्य स्तर पर दो तरह की समानांतर संरचनाएँ चलती हैं, ख़ास कर प्राथमिक स्तर पर। एक वह जो अभियान का दफ़्तर है, जिसे प्रोजेक्ट ऑफ़िस बोलते हैं, और हर राज्य का अपना शिक्षा विभाग है। यह दो भी एक तरह से समानांतर चलते हैं। मुझे लगता है यह बहुत ज़रूरी है कि हर राज्य का शिक्षा विभाग यह ज़िम्मेदारी ले कि वह आरटीई के कार्यान्वयन को देखे और उसकी प्रक्रिया को ट्रैक करे। जहाँ-जहाँ ख़ामियाँ हैं उसकी रपट दी जाए।

शुरू-शुरू में जब आरटीई लागू हुआ तो पहले तीन साल, हर साल सरकार की तरफ़ से रिपोर्ट आती थी कि यह कैसे चल रहा है, किस राज्य में क्या दिक़्क़त आ रही है, किस तरह के मानक पूरे नहीं हो रहे हैं, कहाँ ख़ामियाँ हैं इत्यादि। इस तरह की ट्रैकिंग अब बंद हो चुकी है। यह न केंद्र की तरफ़ से हो रहा है, न राज्य की तरफ़ से। मुझे लगता है राज्य सरकार को इसमें अहम भूमिका निभानी चाहिए।

*(**कं. श. :** ज्ञान-रचना और शिक्षा के माध्यम को लेकर क्या आपके पास कुछ सुझाव हैं?)* ख़ास कर उच्च शिक्षा को लेकर दो-तीन बातें कहना चाहती हूँ। एक तो यह कि हम केवल अंग्रेज़ी से हिंदी में या अन्य भाषाओं में अनुवाद की तरफ़ ध्यान न दें, हालाँकि यह करना भी बहुत ज़रूरी है और वह करना भी है। उस तरह की सामग्री पहुँचानी है छात्रों तक, पर हमारे अपने संदर्भ में अलग-अलग राज्यों में उनकी अपनी भाषा में बहुत सारी सामग्री है, साहित्य है, बाल साहित्य है जो हमारे शिक्षकों की शिक्षा के दौरान काम आ सकता है। तो, इस तरह का प्रयास होना चाहिए कि हमारी भाषाओं में जिस तरह की सामग्री है उसे कुछ लोग गम्भीरता से देखें और प्रासंगिकता के आधार पर उनका चयन करें व अन्य भाषाओं में भेजें।

तीसरी बात यह है कि हमारे अपने संदर्भ में अगर हम देखें तो बहुत सारा प्रासंगिक साहित्य, जो ख़ास कर शिक्षा में प्रासंगिक है— यह नहीं कि अनुशासन अलग-अलग है— पर शिक्षा के लिए भी ख़ास प्रासंगिक है, भले ही लेख समाजशास्त्र या राजनीतिशास्त्र में या विज्ञान में लिखे गये हों, उन्हें एकत्र किया जाए। यह हमारे शिक्षकों के लिए बेहद ज़रूरी है।

और मेरे ख़्याल से भाषा का मामला सिर्फ़ अकेले भाषा का नहीं है, बल्कि वह ज्ञान से जुड़ा मामला है। उपयुक्त सामग्री को उपलब्ध करना एक टेक्निकल बात है। यह इस बात से जुड़ा है कि हम किस तरह से रीडिंग का चयन करते हैं। किस तरह की सामग्री को उपयुक्त समझते हैं किस तरह के कोर्स के लिए। इसमें भागीदारी होनी चाहिए अंतर-अनुशासनिक परिप्रेक्ष्य की, ताकि हम वह सब ले कर आयें जो हमारे संदर्भ में लिखा हुआ है। उस सबको एकत्र करके एक अच्छे परिचय के साथ विद्यार्थियों तक पहुँचाए। और यह काम अभी तक नहीं हुआ है। ज़्यादातर बिखरा हुआ है और हमारी उच्च शिक्षा में समस्या यह है कि शिक्षक अपने ही ज्ञान का भण्डार ले कर कक्षा में जाते हैं। शिक्षक ख़ुद ही नहीं पढ़ते हैं क्योंकि इसके लिए उन्हें खोजना पड़ेगा। इसलिए कुछ आसान तरीक़े होने ज़रूरी हैं ताकि वे चीज़ें उपलब्ध हों और उच्च शिक्षा के स्तर पर

जहाँ-जहाँ रिफ्रेशर कोर्स होते हैं वहाँ सामग्री मिले। यह अभी तक नहीं हो रहा है। ***(कं. श. :** जैसे आप कह रही थीं कि निजीकरण और प्रॉफ़िट मेकिंग को अलग रखना होगा? उसके लिए आप क्या सुझाएँगी?)* यह तो नीतिगत मसला है। मुझे नहीं लगता कि लोगों के स्तर पर यह हो सकता है। सरकार को निजीकरण रोकना होगा। सभी को शिक्षा प्रदान करने की अपनी भूमिका को निभाना होगा। एक तरह का दबाव डालना, पॉलिसी पर सवाल उठाना, राज्य का जो दायित्व है वो उसे सँभालना होगा।

शिक्षकों की शिक्षा को ही देखें, इसमें निजीकरण 95 प्रतिशत है। इसे रोकने के लिए भले ही शिक्षक शिक्षा संस्थान खड़े न किये जाएँ, लेकिन उच्च शिक्षा में जो लिबरल कोर्स हैं— जैसे लिबरल आर्ट ऐंड साइंस उसी में शिक्षक शिक्षा के कोर्स बनाए जा सकते हैं। तो हम किसी तरह से ऐसे तरीक़े ढूँढ़ें कि जहाँ राज्य की भूमिका बढ़े। यह नीतिगत मसला है। मुझे लगता है हमें नीति-निर्माताओं पर दबाव डालना होगा ताकि निजीकरण की तरफ़ जो रफ़्तार बढ़ रही है उसे रोका जा सके।

सतेंद्र कुमार : एक तो यह कि व्यावसायिक शिक्षा ऐसी हो कि जिसमें एक व्यक्ति को सम्मानपूर्ण रोज़गार मिल सके। इस पर बात तो बहुत होती है पर नीतिगत कार्यान्वयन नहीं किया जाता। बात चलती है कि रोज़गारपरक शिक्षा हो पर होती नहीं। जो आधे-अधूरे मन से होती भी है उसका परिणाम बहुत अच्छा नहीं रहा है। यानी रोज़गारपरक शिक्षा को व्यापक स्तर पर लागू किये जाने की आवश्यकता है। इसे इंडस्ट्री से जोड़े जाने की ज़रूरत है। कोई भी उद्योग या कम्पनी को इन पाठ्यक्रमों के साथ जोड़े जाने का प्रयास किया जाना चाहिए, ताकि छात्र अपनी कुछ पढ़ाई करके दसवीं के बाद या बारहवीं के बाद कोई काम करना चाहता है तो उसे सम्मानपूर्वक अच्छा वेतन मिल सके।

दूसरा, मातृभाषाओं में शिक्षा का मैं पक्षधर हूँ। मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा को बढ़ावा मिलना चाहिए और ज्ञान-रचना भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जहाँ भी हो रही है उसे संकलित करना चाहिए और बढ़ावा देना चाहिए। एक बहुत बड़ी मेधा जो है वह अंग्रेज़ी के कारण बाहर है। इस संदर्भ में मैं अभय दुबे की इस बात से सहमत हूँ कि अंग्रेज़ी की वजह से हमारी बहुत बड़ी जमात शिक्षा से बाहर हो गयी है।

तीसरा, निजीकरण और मुनाफ़ाख़ोरी को ग़ौर से देखना चाहिए कि सरकार अगर चाहती है कि निजीकरण हो और निजी क्षेत्र शिक्षा में आये तो यहाँ भी सरकार की दो ज़िम्मेदारियाँ हैं। एक मुनाफ़ाख़ोरी पर रोक लगाए ताकि शिक्षा का मतलब मुनाफ़ाख़ोरी न रह जाए। फ़ीस को विनियमित करे, संरचना व सुविधाओं को विनियमित करे। इसके साथ-साथ सरकारी संस्थाओं में निवेश करे और उनका स्तर सुधारे।

नीरज जैन : सभी विकसित समाजों की शिक्षा को लेकर हुआ एक अध्ययन हम सभी को एक रोचक निष्कर्ष तक ले कर जाता है। इसके अनुसार आर्थिक विकास के मध्य काल तक स्कूली शिक्षा के स्तर पर गुणवत्ता युक्त शिक्षा सभी की पहुँच में थी। अभी भी अमीर देशों में मात्र दस प्रतिशत बच्चे ही निजी विद्यालयों में जाते हैं। स्वीडन में शिक्षा पर होने वाले ख़र्च का मात्र दो प्रतिशत निजी क्षेत्र से आता है और फ्रांस जैसे देश में 99.5 प्रतिशत शिक्षा पर ख़र्च सरकार द्वारा किया जाता है। कोई भी ऐतिहासिक लेख इस बात को किसी और तरह से नहीं लेता— बस इस बात को छोड़ कर कि इस क्षेत्र में जनता द्वारा मज़बूत प्रबंध किया जाता है।

यदि भारत भी विकसित होना चाहता है तो उसके लिए बेहद ज़रूरी है कि यहाँ के सभी बच्चों को अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा मिले। और यह सिर्फ़ सरकारी क्षेत्र से हो सकता है सरकार के पैसे व निवेश से। दरअसल हाल में संयुक्त राष्ट्र के मानव अधिकार आयोग ने यह स्वीकारा है कि निजीकरण और व्यवसायीकरण का बढ़ता प्रभाव शिक्षा के अधिकार पर एक ख़तरा है। भारत हालाँकि इस बात का समर्थन करता है, पर अभी तक जो भी नीति अपनाई जा रही है वह उलटी दिशा में जा रही है।